श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ सं० १०

वैदिक सिद्धान्त

अर्थात्

कतिपय वैदिक सिद्धान्तों पर निबन्ध संग्रह

प्रकाशक:-श्री नारायण स्वामी

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ सं १०

ओ३म्

वैदिक सिद्धान्त

अर्थात्

कतिपय वैदिक सिद्धान्तों पर निबन्ध संग्रह

प्रकाशकः-

श्री नारायण स्वामी

कार्यकर्त्ता प्रधान

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी सभा, मथुरा

मुद्रक—बाबू शिवकृपाल

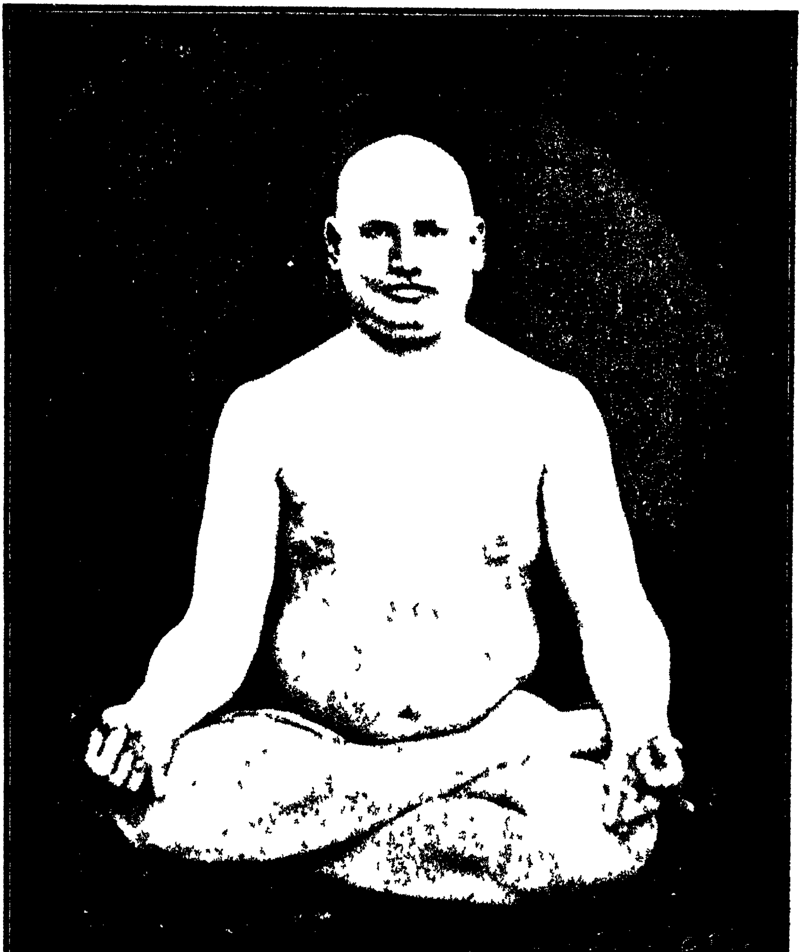
विद्या प्रिंटिंग प्रेस मेरठ।

प्रथम बार २०००

१६२५

मूल्य बिना जिल्द १।)
" सजिल्द १॥)

विषय सूची



आर्य्यसमाजप्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द

ओ३म्

संस्कार

(लेखक—श्रीमान् बाबू गंगाप्रसाद एम. ए. हेड मास्टर डी.ए वी. हाई स्कूल प्रयाग।)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ्ँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
यजु॰ अ॰ २५। मं॰ २१।

इस वेद मंत्र में उपदेश है कि मनुष्यों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उनके शरीर के भिन्न २ अवयव सुदृढ़ और अपने २ कर्त्तव्य पालने में समर्थ हों और उनकी आयु संसार के हित में व्यय हो।

शरीर के अवयवों को सुदृढ़ तथा योग्य बनाने और उनको धर्मानुकूल प्रयुक्त करने का मुख्य साधन संस्कार हैं। संस्कारों से न केवल शरीर का ही विकास होता है किन्तु मानसिक, वाचिक तथा आत्मिक उन्नति का भी एक मात्र साधन संस्कार ही हैं। इसीलिये आर्य्य जाति में संस्कारों को इतना महत्त्व दिया गया है॥

'संस्कार' शब्द सम् उपसर्ग और 'कृ' धातु से मिलकर बना है। इसका अर्थ 'शुद्ध करना' या 'उन्नत' करना है। आज कल संस्कारों से रस्मोरिवाज (rituals) का अर्थ लिया जाता है। रस्मोरिवाज से आजकल का सभ्य संसार तंग है इसलिये शिक्षित समुदाय संस्कारों को व्यर्थ पाखण्ड समझता है। [illegible] जाति में संस्कार तो बहुत दिनसे लुप्तप्राय हो गये हैं, उनके केवल चि[illegible] शेष हैं, यह चिन्ह भी या तो अशिक्षित स्त्रियों के हाथ में हैं [illegible] किसी न किसी प्रकार लकीर पीटती जाती हैं या उतने ही अ[illegible] क्षित या अर्द्धशिक्षित पुरोहितों और पण्डितों के अधीन हैं [illegible] इनको अपनी जीविका चलाने के लिये किये जा रहे हैं।

रस्मोरिवाज (rituals) इतना घृणित शब्द नहीं है जितना समझा जाता है। यदि रस्मोरिवाज के इतिहास की विवेचना की जाय तो ज्ञात होगा कि रस्मोरिवाज का आरम्भ में एक विशेष लक्ष्य था जिस प्रकार प्रत्येक कार्य्य का हुआ करता है। कल्पना कीजिये कि आपको दुर्गम बन पार करके किसी नियत स्थान पर पहुंचना है। बन में कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। आप अपनी बुद्धि या विद्या या विद्वानों के परामर्श से निश्चित दिशा में चलकर उस स्थान पर पहुंचते हैं। इसको आप साधारण कार्य्य कहेंगे, आपके पैरों के चिन्ह भूमि पर पड़ेंगे तो सही परन्तु स्पष्ट न होंगे। यदि उसी मार्ग पर आपने चिन्ह बना दिये और आप या आपके अनुयायी पुनः पुनः उसी मार्ग पर चल कर उस स्थान तक पहुंचते रहे तो यह सड़क बन जायगी और भावी सन्तान को सुविधा हो जायगी। जो सम्बन्ध आरम्भिक मार्ग और इस सड़क में है वही सम्बन्ध व्यक्तिगत कार्य्यों और रस्मोरिवाज में है। " महाजनो येन गतः स पन्था "। बड़े मनुष्य जिस मार्ग से चलते हैं वही सड़क कहलाती है। ऋषि मुनियों ने वेद तथा तपोबल से कर्त्तव्यपालन और मुक्तिप्राप्ति का एक कार्य्यक्रम निश्चित किया लोगों ने उनका अनुकरण किया और शनैः २ इस कार्य्यक्रम का नाम ही रस्मोरिवाज हो गया॥

वर्त्तमान शिक्षित समाज भी रस्मोरिवाज के फन्दे से छुटकारा नहीं पा सकता। यह हो सकता है कि एक प्रकार के रस्मोरिवाज को छोड़कर दूसरे प्रकार के रस्मोरिवाज को ग्रहण करले। जिधर आंख उठाइये उसी ओर रस्मोरिवाज का आधिपत्य मिलेगा। उदाहरण के लिये सब से अधिक आवश्यक, सब से अधिक कार्य्य-संलग्न सेना विभाग को लीजिये। सेना में जीवन और मृत्यु का प्रश्न प्रतिक्षण प्रस्तुत रहता है। वहां किसी ऐसे कार्य्य करने का

समय नहीं मिलता जो व्यर्थ या केवल मनोरंजन का साधक हो। परन्तु वहां रस्मोरिवाज का इतना अधिकार है कि पैर उठाने, हाथ हिलाने, ऊपर देखने, नीचे को आँख करने, सिरको मोड़ने, पीठ को फेरने आदि प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य्य के लिये भी एक शब्द नियत है और व्यक्तियों को कुछ भी स्वतंत्रता नहीं दी जाती। सैनिकों के भिन्न २ कृत्यों की यज्ञसम्बन्धी भिन्न २ क्रियाओं से और 'आर्डर' (आज्ञाओं) की मंत्रों से तुलना की जा सकती है। राजकीय दरबारों, न्यायालयों, विश्वविद्यालयों की कानवोकेशन सभाओं में भी आप इस प्रकार के रस्मोरिवाज का आधिपत्य पायेंगे। यह रस्मोरिवाज आजकल के सभ्य और शिक्षित समुदाय ने बनाये हैं और कोई इनको घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकता। फिर समझ में नहीं आता कि शिक्षित समाज की ओर से प्राचीन रस्मोरिवाज की ओर ऐसी उदासीनता या उपेक्षा क्यों है ?

लोग पूछते हैं कि यज्ञ में यजमान पूर्व की ही ओर मुंह क्यों करे? विवाह में वधू और वर सात ही पग क्यों चलें। जातकर्म में सोने की ही शलाका क्यों हो। समावर्त्तन में अमुक मंत्र ही क्यों पढ़ा जाय? अमुक कृत्य में आठ ही आहुतियां क्यों दी जायं? परन्तु इन्हीं प्रकार के महाशयों से पूछा जा सकता है कि राज दरबार में जाते समय इतनी ही दूर से क्यों अभिवादन किया जाय, सिर को इतने ही ढंग क्यों झुकाया जाय, राजदरबार के वस्त्र अमुक प्रकार के ही क्यों हों? यूनीवर्सिटी के कानवोकेशन की गौन निश्चित प्रकार की ही क्यों हो, हाई कोर्ट के जजों की टोपी नियत रीति की ही क्यों हो? तो उसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि यह कल्पित नियम सभा या समाज को पूर्णरूपेण संगठित करने के लिये हैं। सादृश्य तथा ऐक्य ही संगठन का बाह्य साधन हैं। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कार भी

जिनको रस्मोरिवाज कहा जाता है समाज को संगठित करते हैं और इसलिये आवश्यक हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि सेना, दरबार तथा यूनीवर्सिटी आदि के रस्मोरिवाज प्रभावशाली और प्रशंसनीय प्रतीत होते हैं परन्तु संस्कारों के नियम ऊलजलूल, अनावश्यक और वर्त्तमान काल के सर्वथा प्रतिकूल होने से हास्यजनक हैं। जैसे स्नातक होने से पूर्व सिर मुंडाना कैसा भद्दा लगता है। परन्तु ऐसे पुरुषों ने यह नहीं विचारा कि हमारे संस्कारों में कितना आवश्यकीय और महत्व-पूर्ण भाग है और वह मनुष्य की शारीरीक तथा आत्मिक उन्नति का कहाँ तक साधक है। उन्होंने गौरवशालिता तथा भद्देपन के भी कल्पित अर्थ लेलिये हैं। इसी लिये उनको प्रभावशाली वस्तुयें भी केवल इसलिये भद्दी लगती हैं कि विदेशीय लोग उनको भद्दा समझते हैं। उदाहरण के लिये शिर पर शिखा होना कोई भद्देपन का चिन्ह नहीं है परन्तु भारतीय नवशिक्षितों ने देखा कि यूरोप के लोग पूर्वीय देशों के शिखाधारियों को (pig-tailed) या शूकर-पुच्छी कहते हैं तो उन्होंने भी शिखा जैसे धर्म चिन्ह को तिलां-जलि देदी। यह केवल विदेशीय आदर्शों के अनुकरणों का फल है कि नवशिक्षित पुरुष चोटी को तो भद्दा समझें परन्तु मुसलमानों की टर्की टोपियों के ऊपर की शिखा को सुन्दर कहें। प्रायः नवयुवक पूछते हैं कि शिखा क्यों रक्खी जाय परन्तु कोई यह नहीं पूछता कि अलबर्ट फ़ैशन के बाल क्यों रखाने चाहियें।

यद्यपि संस्कारों को आजकल रस्मोरिवाज कहते हैं और हमारी दृष्टि में रस्मोरिवाज भी समाज संगठन के लिये बड़े आव-श्यक हैं तथापि यह नहीं समझना चाहिये कि रस्मोरिवाज ही संस्कार हैं। हमारे विचार में रस्मोरिवाज तो संस्कारों के बाह्य चिन्ह हैं। संस्कारों में आन्तरिक गौरव भी हैं। बाबल के ऊपर

की भूसी चावल नहीं है परन्तु चावल का ख़ोल अवश्य है। इस ख़ोल के बिना चावल की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि नहीं हो सकती थी। इस ख़ोल ने चावल को उन्नत होने में बड़ी सहायता दी। यदि यह ख़ोल न होता तो चावल की रक्षा नहीं हो सकती थी। इसलिये चावल की भूसी को व्यर्थ और अनावश्यक समझना बड़ी भारी भूल है। हां बड़ी भूल यह भी है कि भूसी को ही चावल समझा जाय। धान चावल और भूसी दोनों का नाम है। इसी प्रकार संस्कार के दो रूप होते हैं एक आन्तरिक रूप और दूसरा वाह्य। वाह्य रूप आन्तरिक महत्व की रक्षा करता है। वह उसकी संसार में जीवित रहने में सहायता करता है। वाह्य रूप का नाम रस्मोरिवाज है। रस्मोरिवाज न होते तो संस्कारों का आन्तरिक महत्व भी कभी का नष्ट हो जाता। अतः रस्मोरिवाज संस्कार नहीं हैं किन्तु संस्कार का एक भाग अवश्य हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कार का अर्थ है "शुद्धिकरण' या 'विकास'। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो वह न पूर्ण ही होता है और न शुद्ध। प्रायः हमने लोगों को यह कहते सुना है कि बच्चा निर्दोष होता है। उसका मन सफ़ेद चद्दर के समान निर्मल होता है और केवल संसार में आकर ही वह दोषों को सीखने लगता है। परन्तु याद रखना चाहिये कि यह वैदिक सिद्धान्त नहीं है। ईसाई और मुसलमान लोग बच्चों को मासूम (निर्दोष) इसलिये कहते हैं कि वह आवागमन और भूतपूर्व जीवन पर विश्वास नहीं रखते। वह समझते हैं कि ईश्वर जीव को बनाता है अतः वह शुद्ध ही होगा। इंग्लैण्ड के विख्यात फ़िलासफ़र लौक (Locke) ने भी बच्चे के मस्तिष्क को श्वेत निर्मल पट्टी (talula rasa) से उपमा दी है। वह कहता है कि जिस प्रकार श्वेत पट्टी पर तुम जो चाहो सो लिख सकते हो उसी प्रकार बच्चे का मस्तिष्क भी पहले निर्मल

होता है और संसार के बाह्य प्रभाव उस पर पड़ने लगते हैं। लौक महाशय के दार्शनिक विचारों की मीमांसा का अवसर न होने से हम यहां उनकी थ्यूरी पर अधिक कुछ नहीं कहते परन्तु इतना अवश्य है कि शिक्षण शास्त्र की नींव ऐसे भ्रममूलक सिद्धान्त पर रखना बड़ी भूल है। बच्चा शारीरिक, वाचिक, मानसिक तथा आत्मिक किसी अपेक्षा से भी न तो पूर्ण ही होता है और न शुद्ध। इस लिये उसकी अपूर्णता और अशुद्ध दोनों को ही दूर करने के लिये कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। इन्हीं साधनों का नाम संस्कार है।

जीवात्मा जब एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में जाता है तो उसके पूर्वजन्म के प्रभाव उसके साथ जाते हैं। इन प्रभावों का वाहक सूक्ष्मशरीर होता है जो जीवात्मा के साथ एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाता है। इन प्रभावों में कुछ बुरे होते हैं और कुछ भले।

जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है तो उसको इस नई परिस्थिति में सहस्रों अन्य प्रभाव मिलते हैं। इनमें से कुछ तो बुरे प्रभावों के अनुकूल होते हैं और कुछ भलों के। भले प्रभाव भले प्रभावों का स्वागत करना चाहते हैं और बुरे बुरों का इस को स्पष्ट करने के लिये हम मोटे से दो उदाहरण देते हैं। पहला रेल के डिब्बे का है। कल्पना कीजिये कि एक डिब्बे में दो सौ मनुष्य भरे हैं। उनमें कुछ बुरे और कुछ भले हैं। यह रेल आगे के स्टेशन पर ठहरती है जहाँ सैंकड़ों मनुष्य खड़े हैं। स्वभावतः बुरे आदमी बुरों को भीतर लेने का यत्न करेंगे और भले भलों को। यदि भलों का प्राबल्य है तो वह बुरों को न आने देंगे, यदि बुरों का

* इन प्रभावों को कभी संस्कार भी कहते हैं। जैसे 'भले संस्कार' बुरे संस्कार आदि।

प्राबल्य होगा तो वह भलों को रोकेंगे। यही दशा पूर्व जन्म के प्रभावों की है। दूसरा उदाहरण खेत का है। खेत में आप गाजर, मूली और शलजम का बीज बोते हैं। यह बीज समान नहीं हैं। खेत के खाद में तीनों प्रकार के बीजों की सजातीय सामग्री उपस्थित है। परन्तु गाजर का बीज अपनी सजातीय वस्तुओं का तो ग्रहण करता है और शेष को छोड़ देता है। यही मूली और शलजम के बीजों का हाल है। इसी प्रकार पूर्वजन्म के प्रभाव कार्य करते हैं। यही कारण है कि एकसी परिस्थिति में रहकर भी दो बच्चे दो प्रकार के हो जाते हैं। यदि बच्चे आरम्भ से ही एक समान शुद्ध होते तो उनमें एक सी परिस्थिति में रहकर भेद भाव न होता।

अब देखना चाहिये कि संस्कारों की आवश्यकता कहां पड़ती है। बच्चा भले और बुरे प्रभावों को लेकर अपने नये जीवन में प्रवेश करता है। उसके पालन पोषण का भार समाज पर पड़ता है। अतः समाज के नियम इस प्रकार के होने चाहियें कि पूर्व जन्म के बुरे प्रभावों का शनैः २ तिरोभाव होता जाय और अच्छे प्रभाव उन्नत दशा को प्राप्त होते जायं। समाज ऐसा करने के लिये जिन नियमों का पालन करता है उनको ही संस्कार कहते हैं।

सब से पहला गर्भाधान संस्कार है। आने वाले जीवात्मा की चेष्टा के लिये आधार तैयार करने का नाम ही गर्भाधान संस्कार है, कल्पना कीजिये कि आपको किसी गौरवान्वित अतिथि की प्रतीक्षा है। आप उसके ठहराने के लिये एक भवन निर्माण करते हैं, उसके आराम के लिये सामग्री एकत्रित करते हैं। इसी प्रकार जो माता पिता चाहते हैं कि हमारे घर में एक अच्छा जीव जन्म ले उनको उस जीव के रहने के लिये भवन निर्माण अर्थात् शरीर निर्माण की तैयारी करनी चाहिये। जिस प्रकार के शरीर बनने की

सम्भावना होगी उसी प्रकार का जीव उसमें आवेगा। परमात्मा का नियम है कि वह जीव को उसके कार्य्यानुसार फल देता है। अर्थात् अमुक फल उसीको मिलेगा जो अपने कर्मोंसे उसका अधिकारी होगा। इसलिये यदि कोई माता पिता महल बनायेंगे तो उस महल में रहने के योग्य जीव भेजा जावेगा। यदि अस्तबल बनायेंगे तो अस्तबल में बंधने योग्य जीव भेजा जायगा, यदि कूड़ा घर बनायेंगे तो उसमें रहने के लिये भी वही जीव आवेगा जो कूड़ा घर का अधिकारी हो। माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्मवित् पुरुष के लिये लिखा है :—

नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ।

उस के कुल में कोई ऐसा पुरुष जन्म नहीं लेता जो ब्रह्मवित् न हो। ब्रह्मवित् माता पिता के शरीरों से ऐसा शरीर बनने की सम्भावना नहीं है जिसमें अब्रह्मवित् जीव रह सके।

अतः जिस प्रकार की सन्तान की इच्छा हो उसी प्रकार की तैयारी माता पिता को करनी होगी। आत्मा मृत्यु के पश्चात् जिस सूक्ष्मशरीर को लेकर चलता है वह पहले पहल पिता के वीर्य में विकास पाता है और उसके पश्चात् माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है। अतः स्त्री पुरुष का संयोग ही गर्भाधान संस्कार की पहली क्रिया नहीं है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि पहले तो बच्चा पिता के गर्भ में जाता है फिर माता के गर्भ में, भेद केवल इतना है कि माता का गर्भाशय और प्रकार का है और पिता का गर्भाशय और प्रकार का, परन्तु है गर्भाशय पिता का भी। पिता के शरीर में वीर्यकोष ही पुत्र का गर्भाशय है, यही आगन्तुक जीव का शरीर है। इसलिये जिस प्रकार का भोजन पिता करेगा, उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा। यह तो रही भौतिक बात। परन्तु

इस भौतिक शरीर पर पिता के मन का भी आभास पड़ेगा। उसमें पिता के प्रत्येक अङ्ग से किये हुये कार्य्यों की प्रतिच्छाया रहेगी। अतः पिता को सोच लेना चाहिये कि जिस प्रकार के बालक की उसे इच्छा है उसी प्रकार का उसका आचरण होना चाहिये। इसीलिये सामवेदीय मंत्र ब्राह्मण में कहा है :—

अंगादंगात्सम्भवसि, हृदयादभिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥

अर्थात् अङ्ग २ से बालक उत्पन्न होता है, अर्थात् प्रत्येक अङ्ग की प्रतिच्छाया शरीर पर पड़ती है, हृदय की सभी भावनायें सार रूप से वीर्य के उस कण में होती हैं जिसको जीव ने अपना शरीर बनाया हुआ है। इसी को आजकल के डाक्टर स्पर्मेटोजा (Spermatozoa) कहते हैं। इसलिये गर्भाधान का सूत्रपात स्त्री प्रसंग से बहुत पहले होना चाहिये।

बच्चे का शरीर पिता के शरीर में एक निश्चित अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता। इसके लिये अधिक अवकाश और भोजन छादन चाहिये। यह सामग्री उसको माता के गर्भाशय में ही मिल सकती है। अतः पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपने शरीर से इस धरोहर को निकाल कर माता के सुपुर्द करदे। इसके लिये स्त्री-प्रसंग की आवश्यकता होती है।

परन्तु प्रथम इसके कि माता गर्भ धारण करे उसको इस महान कर्त्तव्य के योग्य बनना चाहिये। सुदृढ़ शरीर वाली माता ही बालक के शरीर को भोजन पहुंचा सकेगी। परन्तु भोजन ही का प्रश्न नहीं है। माता की दिन चर्य्या इस प्रकार की हो कि पूर्व जन्म के आये हुये अच्छे प्रभावों का विकास हो और बुरे प्रभाव शनैः २ तिरोभूत हो जायं इसीलिये वेद में कहा है :—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वती ।

अर्थात् माता को सिनीवाली और सरस्वती होना आवश्यक है। निरुक्तकार यास्कमुनि 'सिनीवाली, का अर्थ करते हैं:—

सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती ।

'सिन' का अर्थ है अन्न, क्योंकि अन्न भूतों अर्थात् प्राणियों को रस आदि धातुओं से बांधता है। 'वाल' कहते हैं पर्व को अर्थात् जिसमें अन्न ग्रहण किया जाय। इसलिये 'सिनीवाली' का अर्थ हुआ 'अन्नवाली' अर्थात् जिसमें 'जीवात्मा' अपने शरीर के लिये भोजन ग्रहण करे। इसलिये गर्भाधान संस्कार का मुख्य भाग यह भी है कि माता ऐसा भोजन करे जिससे उसके शरीर की धातुयें सर्वथा उत्तम हों और उनसे बालक का उत्तम शरीर बन सके। गर्भधारण के पश्चात् भी माता के भोजन का यथोचित प्रबन्ध होना चाहिये उसको घर भर में सब से अच्छा भोजन मिलना चाहिये। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है :—

"माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें कि जिससे रजस्, वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों" (सत्यार्थ प्रकाश समु० २)

पाठकों को स्वामी जी के अति, पूर्व, मध्य और पश्चात् शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता के लिये दूसरा शब्द 'सरस्वती' है। निरुक्त के ११ वें अध्याय के २६ वें कां० में 'ज्ञानवती' का नाम 'सरस्वती' दर्शाया गया है। ऋग्वेद के पहले मण्डल के तीसरे सूक्त के १० वें,

११ वें और १२ वें मंत्र में सरस्वती की व्याख्या है। ११ वां मंत्र इस प्रकार है।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां। यज्ञं दधे सरस्वती।

अर्थात् सत्य आदि शुभ गुणों को प्रेरक और बुद्धियों के चेताने वाली शक्ति को सरस्वती कहते हैं। केवल अन्न आदि भौतिक पदार्थ ही शरीर निर्माण के कारण नहीं हैं। माता की मानसिक शक्तियां बच्चे के मस्तिष्क को बनाती हैं। मन (mind) और शरीर (body) का परस्पर सम्बन्ध हैं। एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। मनोविज्ञान (Psychology) और शरीर विज्ञान (Physiology) अलग नहीं हैं। कभी २ मानसिक चिन्तायें शरीर को दुर्बल कर देती हैं चाहे भोजन अच्छा ही क्यों न मिले। कभी कभी बुरा भोजन मन की शक्ति को निर्बल कर देता है। अतः माता के विचार न केवल बच्चे के मस्तिष्क पर ही प्रभाव डालते हैं किन्तु उसके शरीर निर्माण के भी उत्तरदाता होते हैं। इस लिये माता के विचारों को शुद्ध करने के लिये गर्भाधान संस्कार का यज्ञ सम्बन्धी भाग अत्यावश्यक है। ईश्वर प्रार्थना और उपासना से माता पिता दोनों का मन शुद्ध होगा और जब माता पिता दोनों पास बैठे हुये 'प्रायश्चित्त के बीस मंत्रों से आहुतियां देंगे और उनके अर्थों को समझेंगे तो उत्तम विचारों की लहरें उनके मस्तिष्क में उठेंगी। मंत्रोंके अवलोकनसे पता चलता है कि माता के बुरे विचारों को नाश करने के लिये प्रार्थना की गई है:—

"यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा"।

अर्थात् पुरुष प्रार्थना करता है कि इस स्त्री में जो कुछ पाप वासनायें हों वह सब नष्ट हो जायं।

"यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा"

अर्थात् इस स्त्री में जो पति के प्रतिकूल वासनायें हों वह भी नष्ट हो जायं।

वर और वधू के विचारों का एक होना ही सन्तान के लिये हितकर है। यह तभी हो सकता है जब उन दोनों के गुण, कर्म और स्वभाव एक हों, अर्थात् वह सवर्ण हों। इसी लिये मनु जी ने कहा है।

"उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।

(मनु ३।४)

और विचारों के ऐक्य के लिये ही विवाह संस्कार में यह प्रतिज्ञा की जाती है कि—

'ओ३म् मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्"।

वर और वधू का चित्त एक सा हो उनमें किसी प्रकार का भेद भाव न हो। ऐसा होने से ही सन्तान के उत्तम होने की सम्भावना है।

कल्पना कीजिये कि एक बच्चे के मात पिता भिन्न २ विचारों के हैं। एक कहता है कि तुम इस प्रकार चलो और दूसरे की आज्ञा इसके सर्वथा विरुद्ध होती है तो बच्चे के नष्ट होने में कोई कसर न समझनी चाहिये। बच्चा पहले उच्छृङ्खल होगा फिर बिगड़ जायगा। इसी प्रकार यदि माता पिता भिन्न २ गुण कर्म और स्वभाव के हैं तो गर्भस्थ बालक के पूर्वजन्म के प्रभावों पर कभी कुछ और कभी कुछ असर पड़ेगा। और माता पिता के मनो भाव एक दूसरे के सहायक (Supplementary) न होकर घातक (neutralisers) बनेंगे। इसलिये आवश्यक है कि यदि पिता ने अपने मनोभावों द्वारा उस समय जब बालक का शरीर वीर्य्य कण (Spermatozoa) के रूप में था एक प्रकार का उत्तम प्रभाव बच्चे के शरीर पर डाल दिया तो सिनीवाली और सरस्वतीरूपी माता उसी प्रभाव को ग्रहण करने में सहायता दे। माता का उत्तर-

दायित्व उतना बच्चे के उत्पन्न होने के पश्चात् नहीं रहता जितना गर्भस्थ अवस्था में होता है। क्योंकि जन्म के पश्चात् तो बच्चा बाह्य संसार से स्वयं भी बहुत से प्रभाव ग्रहण करने लगता है, परन्तु जन्म के पूर्व समस्त प्रभाव मातारूपी शीशे के द्वारा केन्द्रीभूत (focussed) होकर ही बच्चे तक पहुंचते हैं। यदि माता भूखो रहता है, यदि माता पर कष्ट पड़ता है, यदि माता पिता में कलह रहती है, यदि माता अपमान को सहकर दासरूप में रहती है, यदि माता को अपना कलेजा मसोस कर रहना पड़ता है, यदि माता विषयगामिनी या व्यभिचारिणी है तो यह सब भाव अवश्य ही बालक तक पहुंचते हैं। यदि बालक के पूर्वजन्म के प्रभावों में अधिकांश बुरे हैं और कुछ अच्छे हैं और गर्भस्थ दशा में माता पिता के विचार शुद्ध हैं तो बुरे प्रभाव उसी प्रकार मिट जायेंगे जैसे वर्षा में प्रतिकूल परिस्थिति पाकर पोदीना मुरझा जाता है, और यदि अधिकाश प्रभाव अच्छे हैं और माता पिता के विचार बुरे हैं तो इन अच्छे प्रभावों का भी शनैः २ अन्त हो जायगा। परन्तु यदि बच्चा सूक्ष्म शरीर के साथ पूर्वजन्म से उत्तम प्रभाव लाया है और गर्भावस्था में भी उत्तम संस्कार पड़ रहे हैं तो सोने पर सुहागा होगा। अनुकूल जल वायु पाकर शुभगुणों का वृक्ष भली प्रकार फूले फलेगा।

गर्भावस्था में पुंसवन और सीमन्तोन्नयन दो और संस्कार होते हैं। इसके पश्चात् शेष तेरह संस्कार जन्म के पश्चात् होते हैं। इन तेरहमें से जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन और कर्णवेध छः संस्कार तो पाँचवर्ष की आयुमें ही समाप्त हो जातेहैं। शेष सातमें उपनयन और वेदारम्भ ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें प्रायः साथ साथ होते हैं। समावर्त्तन और विवाह संस्कार भी गृहस्थाश्रमका द्वार होने से साथ साथ ही समझने चाहियें। शेष दो वानप्रस्थ और संन्यास

संस्कार उन दोनों आश्रमों की भूमिका मात्र हैं। अन्त्येष्टि संस्कार मृत्यु के पश्चात् होता है और उससे मृतक आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता॥

संस्कारों के इस क्रम पर विचार करने से एक बात प्रतीत होती है।

(१) उत्पन्न होने से पूर्व के तीन संस्कारों का उत्तरदायित्व केवल माता पिता पर है।

(२) पश्चात् पांचवर्ष में होने वाले छः संस्कारों में माता, पिता के साथ परिवार भी सम्मिलित हैं॥

(३) इसके पश्चात् प्रत्येक आश्रम परिवर्त्तन के समय संस्कार होते हैं।

पाठक गण कहेंगे कि गर्भावस्था के संस्कारों के सम्बन्ध में हमने जो कुछ कहा है वह माता पिता की दिनचर्य्या, उनके विचारों आदि से सम्बन्ध रखता है। इसकी उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं। परन्तु यज्ञ करना, पुरोहित बुलाना, परिवार और सम्बन्धियों के सन्मुख मन्त्र आदि पढ़ना आदि रस्मोरिवाज का उन संस्कारों से क्या सम्बन्ध है॥

हम पहले यह स्पष्ट कह चुके हैं कि यज्ञ आदि संस्कार के भाग हैं, सर्वस्व नहीं। इसको हम एक दृष्टान्त से स्पष्ट करेंगे।

कल्पना कीजिये कि रेल द्वारा प्रयाग से कलकत्ते जाना है। गाड़ी प्रयाग से चलकर कई आवश्यक स्थानों पर ठहरती हुई कलकत्ते पहुंचती है। इसलिये आरम्भ, मध्य और अन्त में उचित स्थानों पर स्टेशन बने हुये हैं, इन स्टेशनों का प्रयोजन यह है कि

(१) आरम्भ में गाड़ी को चलाने के लिये पर्य्याप्त सामग्री रक्खी जाय।

(२) अगले स्टेशनों पर देख लिया जाय कि गाड़ी ठीक २ आ रही है या नहीं, सामग्री कम तो नहीं होगई ॥

(३) मध्य के स्टेशनों पर यह भी देखा जाता है कि उद्दिष्ट स्थान तक पहुंचने के लिये सड़क सीधी है या कहीं मुड़ना पड़ेगा जहाँ मुड़ना पड़े वहाँ भी आवश्यक स्टेशन होता है जहां थोड़ी २ देर पीछे आपत्ति की सम्भावना हो वहाँ थोड़ी २ दूर पर स्टेशन बनाने पड़ते हैं ॥

(४) अन्त को देख लिया जाय कि गाड़ी उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच गई या नहीं।

यात्रा में सड़क उतनी ही आवश्यक वस्तु है जितने स्टेशन। यदि स्टेशन विशाल और सुसज्जित हों परन्तु सड़क टूटी हो तो यात्रा असम्भव और निष्फल है। यदि सड़क ठीक हो और स्टेशन न हों या अयोग्य हों तो यात्रा का प्रबन्ध ठीक न रहेगा। इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखकर रेल की कम्पनियां सब से अधिक धन सड़कों पर व्यय करती हैं, उनकी देख भाल का विशेष प्रबन्ध रहता है, निरीक्षक निरन्तर उनकी देख रेख करते रहते हैं। उस से कम धन स्टेशनों पर लगता है परन्तु जितने आवश्यक स्टेशन होते हैं उतना ही उन पर धन लगाया जाता है। स्टेशनों की आवश्यकता की मात्रा उनके प्रबन्ध की उपयोगिता पर निर्भर है। जहां से जितना अधिक प्रबन्ध करना है उसी स्टेशन को उतना ही सुदृढ़ और विशाल बनाना है।

यही दशा हमारे जीवन की है। हम पूर्व जन्म से कुछ संस्कार लेकर इस जीवन में प्रवेश करते हैं। हमारा इस जीवन में प्रवेश करने का मुख्य प्रयोजन यह है कि पूर्व जन्म में जिस अवस्था तक हम आत्मिक उन्नति कर चुके हैं इस जन्म में उससे उच्च अवस्था को प्राप्त करलें अर्थात् पूर्व जन्म में जिस स्टेशन तक पहुंच चुके हैं

इस जन्म में उससे आगे के स्टेशन पर पहुंच जायं। परन्तु यह स्टेशन मुक्ति के निकटतर हो। उस समय से लेकर जब हम सूक्ष्म शरीर द्वारा पिता के वीर्य्य में प्रविष्ट होते हैं और उस समय तक जब हम इस शरीर को छोड़ते हैं एक रेल की सड़क है। इस सड़क पर हम को चलना है और इस प्रकार चलना है कि हमारा अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मुक्ति और निकट आती जाय। इस सड़क पर समय समय पर जो स्टेशन बनाये गये हैं वही सोलह संस्कार हैं। प्रत्येक स्टेशन का स्टेशन मास्टर दूसरे स्टेशन के आने से पूर्व तक की यात्रा का पूर्ण प्रबन्ध कर लेता है। जब दूसरा स्टेशन आता है तो उसका स्टेशन मास्टर पहले की धरोहर का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। इस प्रकार जीवन की समस्त यात्रा समाप्त होती है।

इन संस्कारों के नियत करने का एक मुख्य प्रयोजन यह भी है कि बच्चे की संवृद्धि और उन्नति का भार समस्त समाज के ऊपर है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य समाज पर प्रभाव डालता है। इसलिये समाज इन संस्कारों के समय माता पिता और गुरु के कर्त्तव्यों पर दृष्टि रखता है। जब जीवन में कोई विशेष परिवर्त्तन करना पड़ता है अर्थात् जहां से सड़क मुड़ती हैं वहीं समस्त समाज को इकट्ठा करके साक्षी दी जाती है कि इस बच्चे का यहाँ तक पालन पोषण होचुका और अब इतना और होने वाला है। यही कारण है कि समाज में वह लोग उच्च समझे जाते हैं जिनके शास्त्रोक्त संस्कार होते हैं। संस्कृत न होना एक सामाजिक पाप है। इसका मुख्य कारण यही है कि समाज में यश पाने का कोई अधिकारी नहीं हो सकता जब तक वह समाज को अपनी योग्यता का प्रमाण न दे दे। सम्भव है कि यूनीवर्सिटी की डिगरी प्राप्त करने

के बिना भी मनुष्य अपनी विद्या सम्बन्धी उन्नति करता रहे परन्तु गवर्नमेण्ट यूनीवर्सिटी डिग्री को ही प्रमाणित करती है। क्योंकि यूनीवर्सिटी की नियमानुसार परीक्षायें होती हैं। व्यक्ति गत परीक्षायें लेना गवर्नमेण्ट के लिये दुस्तर ही नहीं किन्तु असम्भव है। इसी प्रकार सम्भव है कि कोई मां बाप अपने बालक की दिन चर्य्या इस प्रकार रक्खे कि उससे आत्मा पर शुभ संस्कार पड़ते रहें परन्तु समाज तो उन संस्कारों की परीक्षा उसी समय ले सकता है जब उसके सम्मुख विधिवत् यज्ञ आदि किया जाय। उस समय न केवल समाज को ही संस्कृत व्यक्ति की योग्यता देखने का अवसर मिलता है किन्तु उस व्यक्ति को भी अवसर मिल जाता है कि वह अपने आप को समाज का अङ्ग समझ सके और अपने ऊपर सामाजिक कर्त्तव्यों के भार का अनुभव कर सके। इसी लिये समाज जीवन रूपी सड़क के प्रत्येक मोड़ पर रेल गाड़ी का पूरा निरीक्षण कर लेता है और आगे के लिये उचित शिक्षा दे देता है।

यह सामाजिक परीक्षायें आरम्भ में जल्दी जल्दी होती हैं क्योंकि आरम्भ में बालक कच्चा होता है। परन्तु ज्यों २ परिपक्वता आती जाती है परीक्षायें भी देर देर में होती हैं। यही कारण है कि बच्चे की पहली पांच छः वर्ष की आयु में संस्कार जल्दी जल्दी होते हैं फिर वर्षों तक संस्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। आरम्भ में जीवन रूपी सड़क में मोड़ भी बहुत होते हैं। उत्पन्न होने के समय बच्चे का कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं होता और जातिवाचक नाम से काम नहीं चलता। वस्तु और नाम अथवा शब्द और अर्थ का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है। कालिदास ने रघुवंश में इसी सम्बन्ध को "वागर्थाविव संपृक्तौ" कह कर दर्शाया है। नाम को संस्कृत में संज्ञा इसी लिये कहते हैं कि उसके द्वारा (सम्+ज्ञा) वस्तु का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है। इसी लिये आवश्यक है

कि नामकरण संस्कार किया जाय। फिर आगे चल कर दाँत निकलने पर पालन पोषण का प्रकार बदलता है। माता के दूध से चलकर अन्न की नौबत आती है। अतः अन्नप्राशन संस्कार की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अन्य संस्कारों को समझना चाहिये।

यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिये। जिन को साधारण लोकोक्ति में संस्कार कहते हैं वह वस्तुतः संस्कार का आरम्भ मात्र हैं, पूर्ण संस्कार नहीं। हम ऊपर भी कह चुके हैं कि यह सड़क नहीं किन्तु स्टेशन हैं। जैसे 'अन्नप्राशन' (अन्न खाना) तो बच्चा नित्य प्रति ही करेगा परन्तु जिस दिन अन्न खाने का आरम्भ हो और जिस रीति से आरम्भ हो उसी का नाम अन्नप्राशन संस्कार है। मुण्डन संस्कार का अर्थ यह है कि आज मुण्डन का विधि पूर्वक आरम्भ होता है। अब नित्य प्रति इसी प्रकार मुण्डन हुआ करेगा। उपनयन संस्कार का अर्थ यह है कि गुरु के पास बच्चे के रहने का आज आरम्भ है या आज से गुरु और शिष्य का सम्बन्ध रहा ही करेगा। वेदारम्भ संस्कार में तो 'आरम्भ' शब्द स्वयं ही पड़ा हुआ है। इसी प्रकार विवाह संस्कार का अर्थ यह है कि आज स्त्री पुरुष के विशेष सम्बन्ध का (वि=विशेष+वाह=सम्बन्ध) आरम्भ होता है। यह विवाह अर्थात् विशेष सम्बन्ध गृहस्थाश्रम के अन्त तक रहेगा। वस्तुतः विवाह की समाप्ति उस दिन नहीं हो जाती जिस दिन सम्बन्धीगण वधू वर को संगठित करके विदा हो जाते हैं, किन्तु वह विवाह का आरम्भिक दिन होता है। वस्तुतः विवाह की समाप्ति तो गृहस्थाश्रम के अन्त में होती है।

आज कल हिन्दू समाज में वैदिक काल के सभी संस्कारों के चिन्ह पाये जाते हैं। प्रायः पद्धतियों में भी बहुत बड़ा भेद नहीं है, यज्ञ वही, मंत्र वही, विधि वही। परन्तु सब से बड़ा भेद यह

है कि रेलकी सड़क उठा दी गई और स्टेशन शेष रहगये हैं। हिन्दू समाज के अज्ञानी नेता जो रुपया सड़कों पर व्यय करना चाहिये था वह स्टेशनों को विशाल बनाने और उनको सुसज्जित करने में व्यय कर रहे हैं। स्टेशनों के सजाने से यात्रा पूरी नहीं होती। इसी प्रकार संस्कारों के केवल रस्मोरिवाज को विशाल बनाने में जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। यही कारण है कि आर्य्य जाति संस्कारों के चिन्ह होते हुये भी अधोगति को प्राप्त हो रही है। विवाह संस्कार आज कल भी प्रायः उन्हीं मंत्रों से होता है जिन से श्री रामचन्द्र के समय में होता था। भेद है भी तो बहुत कम। परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो हम इसको विवाह संस्कार कह ही नहीं सकते। स्टेशन वह है जहां पर आकर रेलगाड़ी ठहरे और जहां आगे चलने का प्रबन्ध हो। आजकल विवाह संस्कार एक ऐसा स्टेशन है जहां पर न कोई गाड़ी आकर ठहरती है और न कहीं को जाती है। एक वर्ष के वर वधू का विवाह, दो वर्ष के वर वधू का विवाह; दस वर्ष की वधू और ५० वर्ष के वर का विवाह, दूध पीतों का विवाह, गोद में खेलते हुओं का विवाह, बे दांत के बुड्ढों का विवाह। न सिनीवाली रही न सरस्वती। अकेले वेद और यज्ञ तो विवाह संस्कार नहीं बना सकते। यह तो तमाशा ही तमाशा रह गया है और इसी लिये लोगों को इस रस्मोरिवाज से घृणा होती जाती है। जब विवाह नहीं तो गर्भाधान संस्कार ही क्या होता। फिर कहीं २ जो सीमन्तोन्नयन होता है वह केवल तमाशा है। चार आदमियों को भोजन खिलाने या मिठाई बांटने का नाम ही सीमन्तोन्नयन संस्कार रह गया है। उपनयन संस्कार भी हिन्दुओं में होता ही है परन्तु किस रूप में? वही स्टेशन का सजाना और रेलगाड़ी का न होना। जो गुरु के पास रहकर शिष्य के आत्मज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली थी वह तो नष्ट होगई। तमाशे के लिये कौपीन और मौञ्जी धारण की जाती हैं। लड़का भिक्षा भी

मांगता है। परन्तु किस लिये? क्या गुरु की सेवा में रहकर विद्या प्राप्त करने के लिये? नहीं। मां बाप कह देते हैं "काशी जाने की आवश्यकता नहीं। हम यहीं विद्या पढ़ादेंगे"। और जो रुपया भिक्षा में आता है उसे घर में रखलेते हैं। रेलगाड़ी की अनुपस्थिति में सभी स्टेशन तमाशा हो जाते हैं और जीवन की विधिवत् दिन चर्य्या के बिना सभी संस्कार तमाशा हो जाते हैं। इस में कोई सन्देह नहीं है। जो घर उपनयन संस्कार में पांच सौ रुपये व्यय कर देते हैं वह विद्या प्राप्ति में जो कि उपनयन संस्कार का वास्तविक भाग था दो सौ रुपये व्यय करना भी अभीष्ट नहीं समझते। जो विवाह संस्कार में हज़ारों खर्च करते हैं वह बधू और वर को विवाह के योग्य बनाने में कुछ ध्यान नहीं देते। जिन घरों में बच्चे के नामकरण संस्कार के समय बाजे बजाने, प्रीति भोजन कराने और नाच रंग में सैकड़ों रुपये व्यय हो जाते हैं वह घर बच्चे की माता के भोजन में जो कि गर्भस्थ बालक के लिये विशेष उपयोगी था कुछ भी व्यय नहीं करते। इस प्रकार आज कल हिन्दू घरों के संस्कारों का वही हाल है जो उस मूर्ख नोकर का था जिसने अपने स्वामी से सन्दूकों की रक्षा करने का आदेश पाकर सन्दूकों से निकाल २ कर वस्त्र उनके ऊपर लपेटने आरम्भ कर दिये। जिस प्रकार स्वामी का उद्देश्य सन्दूकों की रक्षा से केवल वस्त्रों की रक्षा था इसी प्रकार शास्त्रों का उद्देश्य संस्कारों से जीवनचर्य्या का सुधार मात्र था। स्वामी दयानन्द ने संस्कारों के पुनरुत्थान का मुख्य उद्देश्य जीवन सुधार बताया है। इसी लिये उन्होंने अपनी रचित संस्कारविधि में यत्र तत्र प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में उद्देश्य भी लिख दिये हैं। उनके अनुयायी आर्य्यसामाजिकों को भी ध्यान रखना चाहिये कि यह संस्कार बिगड़ कर वही रूप धारण न करलें जो आज कल सामान्य हिन्दू परिवारों में होगया है। तात्पर्य्य यह है कि जब तक

जीवनचर्य्या ठीक नहीं होती, संस्कार उच्च पद से गिरकर रस्मोरिवाज मात्र रह जाते हैं और उनसे लाभ के स्थान में हानि होने लगती है। उदाहरण के लिये यदि १२ वर्ष के वर का १० वर्ष की वधू से विवाह हो और स्वामी जी के बताये हुये संस्कारविधि के प्रत्येक कृत्य का पालन किया जाय तो ऐसे विवाह को वैदिक विवाह कहना स्वामी जी, आर्य्यसमाज और वैदिक रीति का उपहास मात्र होगा।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है। लोग कह सकते हैं कि जब तुम यज्ञ, मंत्रोच्चारण आदि विधि को गौण और जीवनचर्य्या को ही मुख्य मानते हो तो इन रस्मोरिवाज को उड़ाकर केवल जीवनचर्य्या के नियमों पर ही क्यों नहीं बल देते? तुम्हारे कथनानुसार यह प्रतीत होता है कि यदि काबुल का एक पठान युवा अवस्था में पूर्ण यौवनको प्राप्त होकर अपने समान पूर्ण युवती से विवाह करता है तो उसका यह वैदिक विवाह है। इसी प्रकार जो लोग बिना यज्ञ आदि का आडम्बर रचाये विद्योपार्जन करते हैं वह उन लोगों की अपेक्षा अधिक उपनयन संस्कार से संस्कृत समझे जा सकते हैं जो मंत्र आदि ढोंग को तो रचा लेते हैं परन्तु विद्या की प्राप्ति नहीं करते।

इसका उत्तर यह है कि हम यज्ञादि को गौण और जीवन चर्य्या को मुख्य नहीं मानते। हमारे लिये यज्ञादि और जीवन चर्य्या दोनों संस्कार के भिन्न २ भाग हैं और गौण नहीं किन्तु मुख्य हैं। अपने २ स्थान में सभी मुख्य हैं, गौण कुछ भी नहीं। जहाज़ के धरातल में छोटी से छोटी कील भी मुख्य है क्योंकि उसके बिना जहाज़ का हानि पहुंच सकती है। इसी प्रकार यज्ञ रचाना, मंत्र पढ़ना, आशीर्वाद देना या लेना, प्रतिज्ञायें करनी यह भी मुख्य ही हैं, गौण नहीं। आप जो काबुल के पठान के विवाह का दृष्टान्त देते हैं वह भी ठीक नहीं। उसमें वैदिक विवाह का केवल एक अंश

मिलता है अर्थात् यौवनकाल। यह तो केवल भौतिक अंश है। यदि यह समझ लिया जाय कि जीवात्मा पर केवल भौतिक वस्तुओं का ही प्रभाव पड़ता है तो यह ठीक हो सकता है, परन्तु जो यज्ञ रचा जाता है और मंत्र पढ़े जाते हैं उनसे आत्मिक और सामाजिक उन्नति भी अभीष्ट होती है। काबुली पठान को केवल यह ज्ञान है कि पूर्ण युवावस्था में विवाह करना चाहिये परन्तु उसको वैदिक विवाह के आदर्श का तो पता ही नहीं। इसीलिये वह विवाह को भौतिक इच्छा निवृत्ति का साधन मात्र समझता है। उसके हृदय में अपनी स्त्री के लिये वह गौरव भी नहीं है जो वैदिक शास्त्रों में दिया हुआ है। उसकी दिनचर्य्या भी वैदिक नियमानुकूल नहीं है, अतः वह बच्चे के ऊपर भी प्रभाव नहीं डाल सकता।

वैदिक संस्कारों के नैत्यिक और नैमित्तिक दो विभाग हैं। इस पर हम ऊपर बहुत बल दे चुके हैं। नैत्यिक विभाग में पंच यज्ञ सम्मिलित हैं। नैमित्तिक संस्कार सोलह हैं। उपनयन से पहले पंच यज्ञों का भार बालक पर नहीं होता, परन्तु बालक के माता पिता और परिवार का कर्त्तव्य है कि स्वयं पंच यज्ञ करते रहें जिस से बालक के आत्मा पर भी उनका संस्कार पड़ता रहे। जिन घरों में संध्या, अग्निहोत्र, अतिथि पूजा आदि पंच यज्ञ नित्य होते रहते हैं उनके बच्चों को विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उनको यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि ईश्वर है या नहीं और यदि है तो कहां है। वह जिस प्रकार माता के दूध का पान करते हैं उसी प्रकार माता से या उसके आचरणों से आस्तिकतारूपी दुग्ध का भी पान करते रहते हैं और आचरणों का प्रभाव शिक्षा से कई गुना पड़ता है। अंगरेज़ी की कहावत है कि (Example is better than precept) अर्थात् व्याख्यान की अपेक्षा कार्य्य दर्शन अधिक उपयोगी है। यदि बालक पूर्व जन्म के संस्कारों में

नास्तिकता का अंश लाता है तो वह माता पिता के आचरणों के प्रभाव से नष्ट हो जाता है और शुभ संस्कार अपना स्थान जमा लेते हैं। फिर नैमित्तिक संस्कारों में गर्भाधान से लेकर उपनयन के पूर्व तक बच्चा देखता है कि उसके सम्बन्ध में जब कोई नया कृत्य आरम्भ होता है तो यज्ञ अवश्य होता है, वेद मंत्र अवश्य पढ़े जाते हैं, ईश्वर प्रार्थना अवश्य की जाती है। इसका उसके आत्मा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। हमने एक बच्चे को देखा जो बहुत छोटा था परन्तु अपने परिवार के साथ ऐसे संस्कारों में आया जाया करता था। उसकी आयु इतनी छोटी थी कि शुद्ध शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता था। परन्तु जब याज्ञिक लोग मंत्र पढ़ते तो वह भी उनके साथ मंत्रों की भाँति कुछ न कुछ उच्चस्वर से उच्चारण किया करता। जो मंत्र नहीं जानते थे वह समझते थे कि इसको मंत्र ही याद करा दिये गये हैं। वस्तुतः उसके हृदय में मंत्रोच्चारण करने और यज्ञ में भाग लेने की बलवती उत्कण्ठा उत्पन्न हो चली थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उसमें शीघ्र ही आस्तिकता के अङ्कुर उठ खड़े हुये। यही हाल उन बालकों का होता है जो बालकपन में अपने माता पिता के नैत्यिक संस्कारों और अपने तथा अन्य बच्चों के नैमित्तिक संस्कारों से प्रभावित होते रहते हैं। वस्तुतः ऐसे ही बालक जब गुरु से गायत्री या गुरु मंत्र लेते हैं और यज्ञ करने का अधिकार पाते हैं तो उनके ऊपर गुरुमंत्र का भी विशेष प्रकाश पड़ता है। जिनके परिवार में ईश्वरोपासना नहीं की जाती, जिनके घर में बिना पांच यज्ञों में से किसी यज्ञ किये हुये भोजन किया जाता है, जिनके घर में कभी कोई वेद-पाठी यज्ञ नहीं कराता, जिनके घर में प्रत्येक नया कार्य्य बिना ईश्वर-प्रार्थना के आरम्भ कर दिया जाता है उनमें कुछ भौतिक गुण पाये जाने पर भी कोई आत्मिक गुण विद्यमान नहीं होता और

यदि कोई बालक अपने पुराने जीवन के आस्तिकता के संस्कार लाया भी हो तो वह तिरोभूत हो जाते हैं। ऐसे बालक गुरुमंत्र को भी विशेष रीति से नहीं समझ सकते। उनके लिये गायत्री का मंत्र और वैबस्टर डिक्शनरी का कोई पद एक ही अर्थ रखता है।

यज्ञ का होम भाग जीवन के लिये कितना उपयोगी है यह आज कल कम समझ में आता है। प्राचीन वैदिक आर्य्य लोग इस की महत्ता को इतना समझते थे कि उनका कोई कार्य्य भी बिना होमसे आरम्भ हुये नहीं होता था। उस काल में वह इतना ही आवश्यक समझा जाता था जितना सामाजिक उन्नति के लिये प्रीति भोजन समझा जाता है। जब कोई हर्ष का स्थान होता है तो मित्र कहते हैं 'दावत खिलाओ' यह क्यों? इसलिये कि भोजन का शारीरिक जीवन से विशेष सम्बन्ध होने के कारण भोजन सामाजिक संगठन का साधन है। यह एक शीराज़ा है जिससे समाज रूपी पुस्तक के पृष्ठ बंधे रहते हैं। इसीलिये पाश्चात्य देशों में भी टीपार्टी, गार्डन पार्टी, एट होम आदि का बड़ा भारी प्रचार है। परन्तु भोजन से कहीं अधिक शरीर का सम्बन्ध होम से है। जहां भोजन स्थूल रूप से पेट के लिये उपयोगी है वहाँ हवन में जलाये हुये सुगन्धियुक्त पदार्थ सूक्ष्म रूप से कई गुणो शक्ति में शरीर और मस्तिष्क दोनों के लिये उपयोगी हैं। होम्योपेथी वाले जानते हैं और पहले आयुर्वेदज्ञ भी जानते थे कि सूक्ष्म होने से किसी वस्तु की शक्ति (potentiality)बढ़ जाती है इसीलिये जहां आज कल होम्यो पेथी में हाई पावर्स की औषधियां दी जाती हैं और वैद्यक में रस दिये जाते हैं वहां प्राचीन प्रणाली में होम को भी रोग निवृत्ति और स्वास्थ्य रक्षा का एक विशेष साधन माना गया है। होम में परिवार और सम्बन्धियों को न केवल यज्ञ शेष अर्थात् प्रसाद ही मिलता है किन्तु उनको उस प्रसाद से भी अधिक बहुमूल्य और

शक्तिशाली सूक्ष्म प्रसाद की भी प्राप्ति होती है और सामाजिक संगठन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। दूसरे जिस व्यक्ति का संस्कार करना होता है उसका मस्तिष्क हवन की सुगन्धि से इस योग्य हो जाता है कि सूक्ष्म शिक्षाओं को भली प्रकार ग्रहण कर सके।

ईश्वर प्रार्थना के लाभ हम बता ही चुके हैं। नैमित्तिक संस्कार में प्रतिज्ञायें और मंत्रोच्चारण उतने ही उपयोगी हैं क्योंकि इनके द्वारा न केवल संस्कृत व्यक्ति समाज की साक्षी में विशेष जीवन यात्रा के लिये प्रतिज्ञा ही करता है अधिकन्तु उसके आत्मा पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये हम कुछ संस्कारों की विधि के कुछ मन्त्र देते हैं :—

(१) गर्भाधान संस्कार।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
सवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतं सवितवे॥

अथर्ववेद कॉं० ६ सू० १७

भावार्थ—जिस प्रकार पृथ्वी अनेक रत्न उत्पन्न करती है उसी प्रकार यह स्त्री भी ऐश्वर्य के लिये पुत्र उत्पन्न करे।

(२) पुंसवन संस्कार।

ओं यज्ञ सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ।
मन्ये हं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघन्नियाम्॥

आश्व० गृ० अ० १ खं० १३, सू० ७

भावार्थ—पति कहता है कि हे पत्नी! मैं जानता हूं कि तेरे सन्तानपालक हृदय के भीतर गर्भ है। मुझे तेरी ऐसी देख रेख करनी है कि मुझे पुत्र सम्बन्धी कोई कष्ट न हो।

इस मंत्र के उच्चारण और आहुति से पति समाज को गर्भ को सूचना देता और नारी की उचित देख रेख की प्रतिज्ञा करता है।

नोट—यहां सन्तानोत्पत्ति ही स्त्री प्रसंग का उद्देश्य माना गया है। और विस्तृत पृथ्वी तथा रत्नों के उदाहरण से स्त्री की महत्ता का वर्णन किया गया है।

(३) सीमन्तोन्नयन संस्कार ।

विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।
पुमांसं पुत्रानाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥

भावार्थ इस स्त्री में ईश्वर के पवित्र और श्रेष्ठ रूप से ओजवाली सन्तान उत्पन्न हो अर्थात् यहां आस्तिक सन्तानोत्पत्ति के लिये ईश्वरसे प्रार्थना है

(४) जातकर्म संस्कार

ओं प्रतेददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् ।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥

आश्व० अ० १ खं० १५ सू० १

भावार्थ—हे बालक ! मैं तुझको ईश्वर का बनाया हुआ घृत और मधु चटाता हूं जिससे तू विद्वानों द्वारा सुरक्षित होकर इसलोक में सौ वर्ष तक धर्म पूर्वक आयु व्यतीत करे ॥

यहां पिता बालक के जन्म की समाज को सूचना देता हुआ और समाज के विद्वानों को भी उसके पालन का उत्तरदाता बताता हुआ उसके भोजन छादन का भार अपने ऊपर लेता है । वस्तुतः यह माता पिता के ऊपर समाज की धरोहर है और यदि समाज समझे कि माता पिता इसके पालन पोषण के किसी प्रकार अयोग्य हैं तो समाज स्वयं अपने ऊपर इस भार को ले सकता है ॥

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।
आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥

भावार्थ—इस मंत्र में बच्चे को आशीर्वाद है कि तू पत्थर के समान प्रबल, परशु के समान अत्याचारों को मिटाने वाला और सोने के समान ऐश्वर्य और धन का स्वामी हो और सौ वर्ष तक धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत कर ॥

(५) नामकरण संस्कार ।

कोऽसि कतमो ऽस्येषो ऽस्यमृतोसि । आहस्पत्यम्मासं प्रविश

भावार्थ—समाज के सामने बालक का नाम रक्खा जाता है जिससे लोग उसको उसी नाम से पुकारें, और बताया जाता है कि हे पुत्र ! तू अमर हो । दीर्घ आयु को प्राप्त कर ॥

(६) निष्क्रमण संस्कार ।

ओं यत्पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् ।
वेदामृतस्याह नाम माहं पौत्रमघं रिषम् ॥

भावार्थ—पति पत्नी से बच्चे को बाहर निकालते समय कहता है कि हे देवि ! तेरा हृदय पृथ्वी के सार भाग के समान दृढ़ है और चन्द्र के सदृश सुन्दर है तेरी सन्तान दृढ़ चित्तवाली, रूपवान्, उन्नतिशील और दीर्घायु हो ॥ *

[७] अन्नप्राशन संस्कार

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥
यजु० अ० ११ मं० ८३

भावार्थ-हे अन्न के स्वामी ईश्वर ! आप हमको शुद्ध और स्वास्थ्यकर अन्न दीजिये जिससे हम अपने बालक और पशुओं का अन्न के द्वारा भली प्रकार पालन कर सकें ।

यहां ईश्वर का नाम लेता हुआ पिता बालक को अन्न चटाता है।

(८) चूड़ाकर्म संस्कार

ओ३म् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे ॥

भावार्थ-अच्छा छुरा बालक के केशों को काटे जिससे उसके सिर का रोग निवृत्त हो और ईश्वर उसे दीर्घायु करे ।

---

* नोट-आर्य्य घरों में आर्य्य देवियों का यह उच्च पद प्राप्त करना सभ्यता की उत्तम अवस्था का प्रदर्शक है

(९) कर्णवेध संस्कार

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा। इत्यादि

भावार्थ-हे विद्वानो! हम कानों से अच्छी बातें सुनें (इस मंत्र को निबन्ध के आरम्भ में देखिये)

(१०) उपनयन संस्कार

गुरु पूछता है-को नामासि-तेरा नाम क्या है?

शिष्य कहता है-असावहम्भोः—मेरा नाम यह है।

गुरु—कस्य ब्रह्मचार्यसि-तू किस का ब्रह्मचारी है?

शिष्य—भवतः—आपका।

गुरु—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव।

तू ईश्वर का ब्रह्मचारी है। वस्तुतः ईश्वर ही तेरा आचार्य है। मैं तो उसकी ओर से तेरा आचार्य हूं। इससे प्रकट होता है कि आचार्य शिष्य से कहता है कि ईश्वर की आज्ञानुसार जो कुछ विद्या मुझे आती है मैं तुझे दूंगा। वस्तुतः ईश्वर ही तेरा गुरु है, मैं केवल साधन मात्र हूं। शिष्य आचार्य की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता है। कैसी अपूर्व प्रणाली है।

(११) वेदारम्भ संस्कार

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह गायत्री है। इससे ही वेदारम्भ होता है। इसमें ईश्वर के गुणों का वर्णन है। समस्त विद्याओं का सार आत्मिक विद्या है अतः विद्योपार्जन की अथ श्री और इति श्री आत्मिक शिक्षा से ही होनी चाहिये।

(१२) समावर्त्तन संस्कार

ओं यशसामाद्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च माऽविन्दद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥

यहाँ विद्या समाप्ति पर ब्रह्मचारी प्रार्थना करता है कि समस्त संसार में विद्वानों के बीच में मुझे यश प्राप्त हो और ईश्वर परमात्मा मुझे यश प्राप्त करावे।

आज कल भी कान्वोकेशन में अध्यक्ष की ओर से विद्यार्थी को यशस्वी होने और शुभकर्म करते रहने की शिक्षा मिलती है जिसे चांसलर प्रत्येक व्यक्ति के लिये दुहराता है। पहले इतनी श्रेष्ठता अधिक थी कि ईश्वर को कभी नहीं भूलते थे जिससे आत्मिक उन्नति होती रहे। आज कल अनीश्वरवाद और अनात्मवाद पर अधिक बल है।

(१३) विवाह संस्कार

इस महत्व पूर्ण संस्कार की महत्ता एक दो मंत्रों में नहीं दिखाई जासकती, परिक्रमा, सप्तपदी, शिलारोहण, अरुन्धतीदर्शन आदि प्रत्येक कृत्य सम्बन्धी मंत्रों में स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेम पूर्वक रहने और धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करने के लिये प्रतिज्ञायें भरी पड़ी हैं जो वैदिक विवाह के उच्च आदर्श पर प्रकाश डालती हैं।

(१४) वानप्रस्थ संस्कार

ओं आयुर्यज्ञेन कल्पताम् । इत्यादि

इन मंत्रों में गृहस्थाश्रम से लौटा हुआ पुरुष अपनी आयु, प्राण आदि समस्त शक्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर ईश्वर में लवलीन करने के लिये प्रतिज्ञा करता है। गृहस्थाश्रम तक मनुष्य ने आत्मिक उन्नति के लिये भौतिक पदार्थों का आश्रय लिया अब भौतिक-पदार्थों के विशेष आश्रय के बिना ही आत्मिकोन्नति का समय आया। कुछ दिनों पीछे संसार छोड़ना पड़ेगा। यह शरीर केवल साधन मात्र दिया गया था अतः आवश्यक है कि शरीर के मोह में न फंसे और शनैः २ अपना ध्यान ईश्वर की ओर अधिक रक्खे। अब से जल में कमलवत् रहने की आवश्यकता है अतः उसी प्रकार की प्रतिज्ञायें की जाती हैं।

(१५) संन्यास संस्कार

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां ददातु मे ॥

वानप्रस्थ आश्रम में आत्मिक परिपक्वता प्राप्त करके संन्यासी सकाम कर्मों को सर्वथा त्याग कर निष्काम कर्म आरम्भ करता है और प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर आप मुझे ऐसी प्रेरणा कीजिये कि जिस प्रकार ब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्म को साक्षात् करने वाले लोग निष्काम कर्म करते हैं उसी प्रकार मैं भी अपने लिये कुछ न करता हुआ आपकी दयासे अपना समस्त जीवन दूसरों के हित के लिये व्यतीत करूं ।

(१६) अन्त्येष्टि संस्कार

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीस्तपस्वतो यम तपोजां अपि गच्छतात् स्वाहा ॥

भावार्थ—हे जीव ! हमारे पूर्वज ऋषि, मुनि वेद विहित कर्म करने वाले और धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले जिस मार्ग को गये हैं उसको तू भी जा ।

यह संस्कार वस्तुतः गतात्मा के लिये नहीं होता किन्तु मृत शरीर के लिये ही होता है अर्थात् गतात्मा जिस शरीर को छोड़ गया है उसके तत्वों को सुगन्धित पदार्थों सहित दाह द्वारा सूक्ष्म करके वायु मण्डल में फैला देना चाहिये जिस से उस से दुर्गन्ध आदि न उठे और न कीड़े पड़ने की सम्भावना रहे। दाह में जो मंत्र पढ़े जाते हैं वह गतात्मा को आशीर्वाद देने और उसके सम्बन्धियों को यह उपदेश देने के लिये हैं कि वस्तुतः मृत्यु क्या वस्तु है और मनुष्य को एक दूसरे का मोह कहाँ तक करना उचित है ।

यदि पाठकगण इन मंत्रों पर विचार करेंगे तो उनको इस बात का पता लगेगा कि नैत्यिक पांच यज्ञों और उन के अनुकूल

आचरण करने के साथ २ नैमित्तिक सोलह संस्कारों में पढ़े जाने वाले मंत्र आदि से मनुष्य के आत्मा पर किस प्रकार के प्रभाव पड़ सकते हैं और वह पूर्व जन्म के अनुचित संस्कारों को दबाने और उचित संस्कारों को परिपक्व करने में कहाँ तक सहायता दे सकते हैं हाँ यह अवश्य है कि मंत्रों के तात्पर्य से सब को अभिज्ञ होना चाहिये। साहित्य का मनुष्य के आत्मा पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना अन्य किसी वस्तु का नहीं पडता। यदि अर्थ समझते हुवे किसी मंत्र या पद का पाठ किया जाय तो मस्तिष्क के समस्त कोष्ठों (brain cells) में परिचालन और परिवर्त्तन होने लगता है। और यदि निरन्तर पाठ किया जाय तो मस्तिष्क के कोष्ठ सर्वथा ही बदल जाते हैं और मनुष्य को अन्यथा विचार करना असम्भव हो जाता है। यदि संस्कारों द्वारा हमारा आत्मा इस प्रकार का बन जाय कि बुरे भावों का उठना असम्भव हो जाय तो हमारी उन्नति में सन्देह ही क्या है। आर्य्य जाति में जो बहुत से उत्तम गुण आज कल गिरी दशा में भी वर्तमान हैं और जो अर्वाचीन सभ्य जातियों में प्रयत्न के पश्चात् भी नहीं पाये जाते, जैसे आस्तिकता, अहिंसा, उदारता आदि, यह सब निरन्तर संस्कारों का ही फल है। और जो कुछ अवगुण आगये हैं उन का कारण भी संस्कारों का अर्थ न समझना, केवल लकीर के फ़क़ीर होना मात्र है। इन रस्मोरिवाजों से भी एक लाभ अवश्य हुआ है अर्थात् वह प्रथायें हम तक सुरक्षित आसकी हैं और उन से लाभ उठाने का हम को अवसर मिल गया है। यदि संस्कारों का यह रस्मोरिवाज रूपी आकार भी नष्ट हो जाता तो हमको वैदिक संस्कारों के पुनरुत्थान का कोई अवसर प्राप्त न हो सकता। अतः जब तक जनता संस्कारों को पूर्ण रूप से समझ न सके उस समय तक भरसक प्रयत्न करना चाहिये कि संस्कारों का प्रचार होता रहे। जातियों से शुभगुण न एक साथ जाते हैं और न उनमें एक साथ आते हैं।

इन के लिये बहुत समय लगता है। इस लिये हम को संस्कारों के आन्दोलन पर बड़ा ध्यान देना चाहिये।

यहां एक बात और लिखने योग्य है। अर्थात् संस्कारों का अधिकार किसको है? बहुत से लोग समझते हैं कि स्त्रियां अमुक संस्कारों की अधिकारिणी भी नहीं हैं। शूद्र अमुक संस्कार नहीं कर सकते, इत्यादि। हम संस्कारों का तात्पर्य ऊपर बता चुके हैं। प्रत्येक स्त्री, पुरुष, बालक बालिका जो अपने हृदय पर अच्छे संस्कार डालना चाहता या चाहती है संस्कारों का अधिकारी या अधिकारिणी भी है। इन सोलह संस्कारों में से केवल एक संस्कार ऐसा है जिस का अधिकार सब को नहीं दिया जा सकता अर्थात् संन्यास संस्कार। इस का कारण यह है कि संन्यास में मनुष्य को निष्काम कर्म करने और दूसरों को उपदेश देने का अधिकार दिया जाता है। समाज की ओर से यह अधिकार उसी स्त्री या पुरुष को मिल सकता है जो ऐसी उच्च अवस्था को पहुंच गया हो कि निष्काम भाव से दूसरों को उपदेश कर सके, इसीलिये स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है:—

(प्रश्न) संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी? (उत्तर) ब्राह्मण ही को अधिकार है क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकार प्रिय मनुष्य हैं उसीका ब्राह्मण नाम है बिना पूर्ण विद्या के, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। (समु० ५) इससे सिद्ध है कि यज्ञोपवीत आदि शेष सभी संस्कार स्त्रियों, पुरुषों आदि सभी मनुष्यों के करने चाहियें। केवल यह देख लेना चाहिये कि जो व्यक्ति एक संस्कार कराता है वह उसके नियम पालने के योग्य है या नहीं। उद्देश्य पर दृष्टि रखने से यह सब कठनाइयां दूर हो सकती हैं। इति

ओ३म्

'स्वामी दयानन्द सरस्वती

की

वेदभाष्य शैली सर्वोत्तम है।

(पं० रामबिहारी लाल शास्त्री, वेदतीर्थ, एम० ए० (प्री०) एल एल, बी

संस्कृत प्रोफ़ेसर डी. ए. वी. कालिज, कानपुर)

वास्तव में यह विषय सर्वसामान्य के लिये जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं, मनोरंजक न होगा, और समझने में कठिन होगा परन्तु इसको सरल से सरल बनाने का प्रयत्न किया जावेगा और जितना सम्भव होगा इसको उदाहरणों से मनोरंजक बनाया जावेगा।

विषय इतना महत्वपूर्ण और आवश्यक है कि प्रत्येक आर्य्य और हिन्दू को जो वेदों को अपना धर्मग्रन्थ मानता है अवश्य पढ़ना और विचारना चाहिये क्योंकि जब संस्कृत के प्रमाणित विद्वानों में ही वेदभाष्य करने में भेद हो तो एक साधारण मनुष्य के लिये जो संस्कृत नहीं जानता एक कठिन समस्या उपस्थित होजाती है कि कौन विद्वान् सत्य अर्थ करता है और कौन असत्य, और वह किसको माने।

इस लेख में स्थूल रूप से प्रमाणों सहित सर्वमान्य सिद्धान्त रक्खे जावेंगे जिनके जानने से एक साधारण मनुष्य बिना संस्कृत पढ़े हुये भी किसी भाष्य की शैली को देख कर निश्चय रूप से निर्णय कर सकता है कि वह सत्य है, वा नहीं।

वेदभाष्य करने की कई शैली हैं। यदि हम उनका अन्वेषण करें तो आदि सृष्टि से आज तक तीन शैली प्रतीत होती हैं। (१) नैरुक्तिक (२) ऐतिहासिक और (३) पौराणिक। पहिली दो का प्रमाण आर्षग्रन्थों में मिलता है परन्तु तीसरी का नहीं।

(१) नैरुक्तिक शैली आदि सृष्टि से निघण्टु अर्थात् वैदिक मूलकोश के समय तक प्रचलित रही परन्तु बाद में उसका प्रचार कम होता गया।

(२) ऐतिहासिक शैली ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से लगाकर [illegible] महीधर सायणादि के [illegible]।

(३) पौराणिक [illegible] शैली नहीं किन्तु [illegible] जो मन में आया वह अभिप्राय समझ लेना मात्र है।

यह तीसरी (वेदमंत्रों का मनमाना अभिप्राय समझने की शैली) महीधर और सायणादि के समय के पश्चात् से आज तक प्रचलित है जिससे वर्तमान सनातनधर्म अपने प्रतिष्ठादि कर्मों में वेदमन्त्रों का आशय समझता है जो आशय कि ऊपर लिखी दोनों शैलियों पर किये हुये अर्थ से बिलकुल विरुद्ध है। नीचे लिखे प्रमाणों से ऊपर लिखी तीनों शैलियां सिद्ध होती हैं। संस्कृत का इतिहास इस प्रकार है (देखो निरुक्त अध्याय १ खण्ड २० विभाग २ पृष्ठ ६०)

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च"।

अर्थः—'(पहिले) ऐसे ऋषि हुये जिन्हों ने धर्म को साक्षात् किया था अर्थात् जो धर्म विधायक मंत्रों के द्रष्टा थे उन्हों ने उन

लोगों को जिन्हों ने धर्म का साक्षात् नहीं किया था, और जो नीचे दर्जे के थे (वेद) मन्त्रों का उपदेश किया। जो यह दूसरे नम्बर के ऋषि थे यह (मन्त्रों का) उपदेश देने में असमर्थ थे। उन्हों ने विल्म आदि (वैदिक शब्दों) के ग्रहण करने के लिये यह ग्रन्थ (निघण्टु, अर्थात् मूल वैदिक कोश) बनाया और ब्राह्मण ग्रन्थ बनाये और वेदाङ्ग बनाये'।

भावः—सब से पहिले संहिताओं के मन्त्रों का उपदेश द्रष्टा ऋषियों ने किया। उसके बाद दूसरे नीचे दर्जे के ऋषियों ने निघण्टु बनाया फिर ब्राह्मण ग्रन्थ और फिर वेदाङ्ग बनाये।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यहां वेद शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त किया गया है परन्तु जिस प्रकार मूलग्रन्थ टीका सहित भी मूल ही के नाम से प्रसिद्ध होता है इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदमंत्रों के प्रतीक अर्थात् टुकड़े रख २ कर व्याख्या की गई है और उदाहरण रूपमें कथायें भी दी गई हैं। इनमें वेदों के प्रतीक होने के कारण इनका नाम वेद भी है। एक यह बात भी यहां देखने योग्य है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने केवल मंत्र रूप वेद को ही प्रमाणित धर्मग्रन्थ माना है जो सब से पुराने हैं। परन्तु सनातनधर्मी अपने को सनातन कहते हुये भी ब्राह्मणग्रन्थों को भी जो निघण्टु के भी पश्चात् बने हैं, और जिन को नीचे दर्जे के ऋषियों ने बनाया है धर्मग्रन्थ मानते हैं।

यदि आप निघण्टु वैदिककोश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ जावें तो आपको भली प्रकार ज्ञात हो जावेगा कि इस

नोटः—पंडित दुर्गाचार्य ने, जो निरुक्त के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं, 'इस ग्रन्थ' का अर्थ "गवादि देव पत्न्यन्तं" लिया है। अर्थात् जिस ग्रन्थ के आदि में गौः शब्द और अन्त में देवपत्न्यः है। और यह शब्द निघण्टु के ही आदि और अन्त में हैं।

ग्रन्थकोश में कोई ऐतिहासिक शब्द नहीं है अर्थात कोई ऐसा शब्द नहीं जिसका कुछ इतिहास हो किन्तु सब यौगिक शब्द हैं जो धातुओं से बने हैं। जैसे लौकिक कोशों में लिखा होता है कि 'अमुक नाम राजा विशेष का था' वैसा इसमें नहीं है। न निघण्टु के समय तक वेद के भाष्य करने वाले वेदमंत्र के किसी शब्द का ऐतिहासिक अर्थ करते थे। क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करते होते तो अवश्य ही निघण्टु में ऐतिहासिक अर्थ होता। इसके अतिरिक्त निघण्टु की टीका निरुक्त को जिस को यास्काचार्य ने बनाया है पढ़ने से निश्चय हो जाता है कि निघण्टु में प्रत्येक शब्द का नैरुक्तिक अर्थ दिया है। संक्षेपतः सबसे पहिली वेदभाष्य करने की शैली केवल एक ही थी जिसको हम नैरुक्तिक शैली कह सकते हैं जो आदि सृष्टि से निघण्टु ग्रन्थ बनने तक ऋषियों ने स्वीकार की। निघण्टु ग्रन्थ का बनाने वाला ऋषि कश्यप था जो निरुक्त की प्रस्तावना में सिद्ध कर दिया गया है, और निघण्टु के सब शब्द मन्त्रों से ही लेकर इकट्ठे किये गये हैं जैसा निरुक्त अ० १ खं० १ वि० ४ में लिखा है "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः" ॥

निघण्टु के समय के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ बने। उनमें बहुत स्थलों पर सब से पहिला इतिहास जान पड़ता है। उस समय कुछ संस्कृत के विद्वानों ने वेदमंत्रों के भाष्य करने की एक दूसरी शैली को जन्म दिया। इस शैली के आधार पर वेद मंत्रों का ऐतिहासिक अर्थ किया जाना आरम्भ हुआ जिससे वेदों में भी क़िस्से और कहानियों का अर्थ होना आरम्भ हो गया।

वेदभाष्य को इन दोनों शैलियों का एक स्पष्ट प्रमाण आर्षग्रंथ निरुक्त में ही मिलता है जो एक वेदाङ्ग है और ब्राह्मण ग्रथों के बाद बना है। देखो निरुक्त अध्याय २ खण्ड १६ विभाग २ पृष्ठ १६४।

"तत्को वृत्र मेघ इति नैरुक्ताः
त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ॥
अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म
जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" ॥

अर्थः—'(वृत्र शब्द का अर्थ करते हुये निरुक्तकार कहते हैं) तो वृत्र कौन है नैरुक्तिक वेदभाष्यकार मेघ को वृत्र कहते हैं और ऐतिहासिक वेदभाष्यकार त्वाष्ट्र असुर को वृत्र कहते हैं।

अब निरुक्तकार स्वयं अपना मत लिखते हैं कि यदि कोई पूँछे कि मंत्रों में तो वृत्र के साथ इन्द्र का स्पष्ट संग्राम वर्णन किया है, तो यह उत्तर है कि पानी और बिजली के मिलने से वर्षा होती है वहां पर मंत्रों में उपमा से युद्ध वर्णन है।

इससे निःसन्देह सिद्ध हो गया कि वेदमंत्रों का जो लोग ऐतिहासिक शैली पर अर्थ करते हैं वह यास्क ऋषि के अनुसार असत्य है क्योंकि वेदों में तो उपमादि अलंकारों से ज्ञान दिया गया है और ऐतिहासिक भाष्यकार भ्रम से उस वर्णन को वास्तविक हाल जानकर इतिहास गढ़ लेते हैं जैसा इन्द्र और वृत्र के संग्राम का इतिहास उन्हों ने गढ़ लिया है। पहिली नैरुक्तिक शैली और दूसरी ऐतिहासिक शैली सिद्ध हो चुकी अब तीसरी शैली देखिये।

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं यह वास्तव में वेदमंत्रों के अर्थ करने की कोई शैली नहीं है किन्तु वेदमंत्रों का अभिप्राय समझने की शैली है। यह शैली वर्तमान सनातनधर्मियों में प्रचलित है इसलिये यदि इसका नाम पौराणिक शैली रक्खें तो अधिक उचित होगा। इस शैली के अनुसार वेदमंत्र का एक शब्द लेकर उसका यथार्थ अर्थ बिना जाने हुये उस सम्पूर्ण मन्त्र का अभिप्राय समझा जाता है। जैसे यजुर्वेद अ० १७ का ४९ वां मन्त्र है।

"प्रेता जयता नर..इत्यादि ,,

अब इस मन्त्र का 'प्रेत' शब्द का टुकड़ा लेकर पौराणिक लोग इस मंत्र का अभिप्राय समझ लेते हैं कि यह मन्त्र प्रेतों अर्थात् मरे हुये प्राणियों को बुलाने का अभिप्राय रखता है। पाठकों का बड़ा मनोरंजन होगा यदि वह इस मन्त्र का अर्थ महीधर और उवट और स्वामी दयानन्द का पढ़ें और उसके विरुद्ध पौराणिक लोगों का अभिप्राय देखें।

पहिले पौराणिक लोग जो इस मन्त्र का अभिप्राय समझते हैं उसपर प्रमाण लीजिये। देखो अन्त्येष्टि पद्धति पन्ना २६५ पंक्ति ४ विषय प्रेतबलिप्रयोग।

१-मध्यकलशे विष्णुरूपि प्रेतराजाय नमः विष्णुरूपि प्रेतराजम् आवाहयामि स्थापयामि। भो प्रेतराज इहागच्छेहतिष्ठ। एवं सर्वत्र। ततः पूर्वादि क्रमेण ओं प्रेता जयता नर० प्रेतायनमः प्रेतम् आ० भो प्रेत त्वं इहा० ॥

अर्थ—' बीच वाले कलश में विष्णुरूप प्रेतों के राजा के लिये नमस्कार हो,विष्णुरूप प्रेतों के राजा को मैं बुलाता हूं और स्थापित करता हूं। हे प्रेतों के राजा यहां आइये,यहां ठहरिये। इस प्रकार सब जगह पढ़े। तब पूर्वादि के ही क्रम से (यह मन्त्र पढ़े) "ओ३म् प्रेता जयता नर"इत्यादि। प्रेत के लिये नमस्कार हो,प्रेत को मैं बुलाता हूं और स्थापित करता हूं। हे प्रेत ! तुम यहां आओ और ठहरो "।

संक्षेपतः पौराणिक लोग इस मन्त्र के प्रेत शब्द के टुकड़े से समझते हैं कि इस मन्त्र का अभिप्राय प्रेत का बुलाना है क्योंकि प्रेत बुलाने में वे इस मन्त्र को पढ़ते हैं।

अब महीधर और उवट का जो ऐतिहासिक वेदभाष्यकार हैं इसी मन्त्र का अर्थ सुनिये। महीधरभाष्य पृष्ठ ३२४

योद्धृदेवत्यानुष्टुप् योद्धॄन् स्तौति । नरोऽस्मदीया योद्धारः । यूयं प्रेत पर सैन्यं प्रति प्रकर्षेण गच्छत ततो जयत विजयं प्राप्नुत । द्व्यचोऽतस्तिङः (पा० ६।३।१३५) इति प्रेता इत्यत्र दीर्घः । अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति जयता इत्यत्र दीर्घः ।"

उवट भाष्य पृष्ठ ३२४ "हे नरः मनुष्याः प्रेत गच्छत जयत च"

२ अर्थ—१ इस मन्त्र का योद्धा देवता है और योद्धाओं की स्तुति की गई है, अनुष्टुप् छन्द है । हे (नरः) आदमियो (अर्थात् हमारे लड़ने वालो तुम (प्रेत) पराई सेना की तरफ़ ज़ोर से जाओ, उसपर (जयत) विजय प्राप्त करो (अष्टाध्यायी के सूत्रों के अनुसार) प्रेत (जो प्र उपसर्ग इ धातु जाने के अर्थ वाले से बना है) का प्रेता और जयत का जयता होगया है ।

कहाँ तो प्रेत का अर्थ "ज़ोर से जाओ" यह था उसका पौराणिकों ने अनर्थ किया और प्रेत का अभिप्राय मरे मनुष्य का प्राण समझा ।

उवट भाष्य का अर्थः—

(२) (हे नरः) अर्थात् मनुष्यो (प्रेत) अर्थात् जाओ और जीतो" ॥

इसी मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती का देखिये द्वितीय भाग पृष्ठ १७७६ ॥

योद्धा देवता ॥

पदार्थ—(प्र) (इत) शत्रून् प्राप्नुत । अत्रद्व्यचोऽतस्तिङः

नोट—संस्कृत व्याकरण का नियम है कि जितनी धातुओं का अर्थ जाना है उन्हीं का अर्थ प्राप्त करना है इस लिए यहां स्वामी जी ने (प्र+इत) का अर्थ 'प्राप्त ही लिखा है' ।

इति दीर्घः (जयत) विजयध्वम्। अत्रान्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः (नरः) नायकाः।"

भाषा में

" पदार्थ—हे (नरः) अनेक प्रकार के व्यवहारों को प्राप्त करने वाले मनुष्यो तुम [(यथा जैसे)] शत्रुजनों को (इत) प्राप्त हो, और उन्हें (जयत) जीतो।"

पौराणिक शैली का दूसरी उदाहरण लीजिये। यजुर्वेद अध्याय २३ मन्त्र ३२।

' दधिक्राव्णो········इत्यादि " ॥

और दूसरा यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ११

' पंच नद्यः इत्यादि ' ॥

इन दोनों मन्त्रों के दो शब्द " दधि " और ' पञ्च ' से पौराणिक शैली वाले यह समझते हैं कि इन मंत्रों का अभिप्राय देवता अर्थात् (मूर्ति) को पञ्चगव्य और दही से स्नान कराने का है तभी तो देवता की मूर्ति को पहिला मंत्र पढ़ते हुये पञ्चगव्य से स्नान कराते हैं (पञ्चगव्य पांच पदार्थों अर्थात् दही, दूध, घी, गोमूत्र और गोबर के मिश्रण का नाम है) ॥

पौराणिक लोग इन मन्त्रों का ऐसा अभिप्राय समझते हैं इसपर प्रमाण लीजिये ॥

देखो प्रतिष्ठामयूख पन्ना २२ ॥

' देवायार्घ्यं समर्घ्य स्नापयेत् तद्यथा पंचनद्य इति पंचगव्येन। दधिक्राव्ण इति दध्ना ॥'

अर्थ—' देवता को अर्घ्य (अर्थात् पूजा के द्रव्य) समर्पण करके (उसको) स्नान करावे वह इस प्रकार कि पञ्चनद्य इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ पञ्चगव्य से स्नान करावे और दधिक्राव्ण इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ दही से स्नान करावे ॥

अब आप केवल 'दधि' और 'पञ्चनद्य' शब्दों का ही अर्थ दोनों ऊपर लिखे मन्त्रों के महीधर, उवट और स्वामी दयानन्द के भाष्य में देखें कि इन का क्या अभिप्राय है और पौराणिक क्या समझते हैं ॥

महीधरभाष्य पृष्ठ ४३६ ॥

" महिषीमुत्थाप्य पुरुषा दधिक्राव्ण इत्याहुः (का० २०।६।२१) दधाति धारयति नरमिति दधिः, आदृगमहन् (पा०३।२।१७२) इति कि प्रत्ययः ॥

अर्थ—(कात्यायन श्रौतसूत्र का प्रमाण देते हुये महीधर लिखते हैं) कि (यजमान [राजा] की स्त्री) पट रानी को उठा कर मनुष्य दधिक्राव्ण इत्यादि मन्त्र पढ़ते हैं। जो मनुष्य को धारण करता है वह दधि है। (आगे चलकर महीधर दधि को घोड़े का विशेषण बताते हैं कि जो मनुष्य को ले चलता है)। उवट भी अपने भाष्य में "दधिक्राव्ण अश्वस्य" अर्थात् धारण करने हारे......अश्व का" ऐसा अर्थ करते हैं। और पौराणिक इसका अर्थ दही समझते हैं। तभी तो वह दही से मूर्ति को नहलाते हैं। इसी तरह दूसरे मंत्र के टुकड़े 'पंचनद्यः' का अर्थ महीधर ने पृष्ठ ५६३ पर पाँच नदी किया है। ऐसा ही अर्थ उवट ने किया है और कहा है कि यह और इसके पूर्व के मन्त्र पढ़े जावें 'पाठे विनियुक्ताः (देखो पृष्ठ ५६०)। परन्तु पौराणिक लोग पंच शब्द से पंचगव्य अभिप्राय समझ कर अनर्थ करके इस मन्त्र को पढ़ कर मूर्त्ति को पंचगव्य से स्नान कराते हैं ॥

महीधर और उवट ऐतिहासिक भाष्यकार हैं। उन्होंने अपनी शैली से भाष्य किया तो भी पौराणिकों की तरह हास्यजनक कपोल कल्पना का अभिप्राय नहीं लिया। अब स्वामी दयानन्द का अर्थ सुनिये ॥

स्वामी जी का भाष्य (तृतीय भाग पृष्ठ २५०) । वह ' दधि ' का अर्थ धारण करने वाला, पोषण करने वाला करते हैं ॥

पदार्थ-दधिक्राव्णः यो दधीन पोपकान् धारकान ॥

और इस मन्त्र का अभिप्राय बताते हैं कि (फिर वही राजा किस के समान क्या बढ़ावे इस विषय को यह मन्त्र कहता है)

इसी तरह ' पचनद्यः ' का अर्थ स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य (चतुर्थभाग) पृष्ठ १००८ पर इस प्रकार किया है ॥

(पंच) पांच (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाहरूप ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति " इत्यादि

इस मंत्र का अभिप्राय स्वामी जी लिखत हैं (कि फिर मनुष्य को क्या करना चाहिये इस (विषय को यह मंत्र कहता है) ॥

ऊपर लिखे स्पष्ट प्रमाणों से यह निस्सन्देह सिद्ध होगया है कि किस प्रकार पौराणिक लोग मन्त्रों के एक शब्द से उन के ऊट पटांग अभिप्राय समझते हैं और पौराणिक कृत्य करने में उन्हें पढ़ते हैं । पौराणिक शैली का यह दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया । इसका सम्पूर्ण हाल जानने के लिये जितने पौराणिक कृत्य दशवां, तेरहीं, श्राद्ध प्रतिष्ठादि हैं उन के कराने में जो मन्त्र पौराणिक लोग पढ़ते हैं उन सब को लीजिये और फिर महीधर भाष्य पढ़िये तो ज्ञात होगा कि उन का अर्थ और विनियोग स्वयं महीधर के ही भाष्य के अनुसार इन कर्मों के बिलकुल विरुद्ध है । तभी तो स्वामी दयानन्द पौराणिकों का बहुत ज़ोरों से खण्डन किया करते थे ।

इन तीनों शैलियों अर्थात् नैरुक्तिक, ऐतिहासिक और पौराणिक में से स्वामी दयानन्द की नैरुक्तिक शैली वेदभाष्य करने की है ।

यह जानने के लिये कि स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य शैली

सर्वोत्तम है। यह आवश्यक है कि कुछ कसौटियां बनाली जावें जो सर्वमान्य हों और उनसे इन तीनों शैलियों की यथार्थ परीक्षा की जावे। जो शैली कसौटियों पर कसने से ठीक निकले वही सर्वोत्तम होगी।

वेदों का कोई भी भाष्य क्यों न हो वह ठीक तभी जाना जावेगा जब उसमें निम्न लिखित बातें हों।

(१) वेदभाष्य संस्कृत व्याकरण के अनुसार हो।

(२) वेदभाष्य संस्कृत कोष के अनुसार हो।

(३) वेदभाष्य की शैली को ऋषियों ने स्वीकार किया हो।

(४) कर्म काण्ड के मन्त्रों का जो कुछ अर्थ हो उसी के अनुकूल उनका विनियोग हो। अर्थात् उसी अर्थ के अनुकूल कर्म करने में मन्त्र पढ़े जावें।

(५) वेदभाष्य युक्ति वा तर्कसङ्गत हो।

जिस शैली के भाष्य में यह पांचों बातें पाई जावें वही शैली सबसे उत्तम और सत्य है। सबसे पहिले संस्कृत व्याकरण का हाल सुनिये। स्थूल रूपसे संस्कृत दो प्रकार की है।

(१) वैदिक संस्कृत। (२) लौकिक संस्कृत।

आदि सृष्टि से निरुक्त ग्रन्थ के बनने के समय तक जितने ग्रन्थ संस्कृत में बने हैं वे वैदिक संस्कृत में हैं और निरुक्त के समय के बाद से जितने ग्रन्थ संस्कृत में बने हैं वे लौकिक संस्कृत में हैं। निरुक्त ग्रन्थ सब से पहिला ग्रन्थ है जो लौकिक संस्कृत में बना है। तभी तो इसकी संस्कृत में कुछ मेल वैदिक संस्कृत का भी पाया जाता है। यदि आप पाणिनि जी की अष्टाध्यायी पढ़ें तो आपको कोई सन्देह बाकी नहीं रहेगा कि वास्तव में संस्कृत दो प्रकार की है। एक वैदिक दूसरी लौकिक। क्योंकि व्याकरण

के नियम भी दोनों संस्कृतों के लिये पृथक् २ हैं। जो शब्द व्याकरण के अनुसार वैदिक संस्कृत में शुद्ध हो वह लौकिक संस्कृत की व्याकरण के अनुसार अशुद्ध हो सकता है। एक ही अष्टाध्यायी ग्रन्थ में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत दोनों के नियम दिये हैं।

वेद वैदिक संस्कृत में हैं इस कारण वेदों के भाष्य करने में वैदिक संस्कृत व्याकरण का सहारा लेना पड़ेगा। तभी भाष्य ठीक होगा अन्यथा नहीं। वैदिक व्याकरण के सैकड़ों नियम हैं उनमें से केवल एक को यहां रक्खा जाता है। उसके जानने के बाद आप भली प्रकार समझ जावेंगे कि वैदिक संस्कृत ही ऐसी है जिसमें शब्द और रूप में होते हैं, और अर्थ और रूप के हो सकते हैं।

वैदिक संस्कृत सम्बन्धी एक सब से अधिक प्रसिद्ध और महत्व पूर्ण व्याकरण का नियम अष्टाध्यायी अ० ३ पाद १ सूत्र ८५ में दिया है वह यह है।

" व्यत्ययो बहुलम् "

इस सूत्र का शब्दार्थ है कि " वेदों में (शब्दादि का) बदलना होता है और कहीं विकल्प से होता है और कहीं नहीं होता है।

[लौकिक संस्कृत की व्याकरण के अनुसार उस में शब्दादि को बदलना असम्भव है] "

इस अष्टाध्यायी के सूत्र का भाष्य करते हुए महाभाष्य में पतञ्जलि ऋषि ने एक कारिका (एक प्रकार का श्लोक) लिखी है जो वेदों के प्रत्येक प्रेमी को ज़रूर जाननी चाहिये जिससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होजाता है कि वेदों के शब्दादि में क्या क्या बदल सकता है। वह कारिका निम्न लिखित है। वह काशिका में जो अष्टाध्यायी की टीका है तथा सिद्धान्त कौमुदी में भी लिखी है।

" सुप्तिङुपग्रहलिंगनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन " ॥

अर्थः—'शास्त्रकार (शास्त्र के अर्थ ' सिखाने वाले ' के हैं। वेद सिखाता है इस लिए वेद को भी शास्त्र कहते हैं) इनमें (जो नीचे लिखे हैं) यदि (वेद में) व्यत्यय अर्थात बदलने की इच्छा करे तो वह बदल सकता है। और वह बदलना सूत्र में जो (बहुलम्) शब्द है उससे सिद्ध होता है। वेद में नीचे लिखी बातें बदल सकती हैं।

(१) सुप्=सुबन्त अर्थात् कारक (cases) सब बदल सकते हैं सम्बन्ध (अर्थात् possessive case) भी बदल सकता है। जैसे मानो वेद में ' रामः=(कर्ता) राम ने लिखा है। सो व्यत्यय से इसका अर्थ और कारकों में हो सकता है। अर्थात् "रामः=रामने" का अर्थ निम्न लिखित कार्य कर सकता है अर्थात् ' रामको (कर्म रामम्)' ' रामसे (अपादान रामात्)' ' राम से (करण रामेण)' ' राम में (अधिकरण रामे) ' ' राम के लिये (सम्प्रदान रामाय) ' ' हे राम (सम्बोधन) ' और आप कह सकते हैं कि इस अर्थ में वास्तव में यह शब्द था परन्तु व्यत्यय करके वेद के कर्ता ने ऐसा प्रयोग किया है।

(२) तिङ्=तिङन्त अर्थात धातु के रूप बदल सकते हैं। अर्थात् क्रिया बदल सकती है।

(३) उपग्रह=अर्थात् वेद में परस्मैपद धातु का आत्मनेपद और आत्मेनपद का परस्मैपद हो सकता है (यह दो क्रियाओं के रूप चलाने के मार्ग हैं।

(४) लिङ्ग=अर्थात् वेद में स्त्रीलिंग का पुल्लिंग और पुल्लिंग का स्त्रीलिंग, इसी प्रकार इन दोनों का नपुंसकलिंग और उसका यह दोनों बदल कर हो सकते हैं।

(५) नर=अर्थात् वेद में पुरुष (person) भी बदल सकते हैं अर्थात् उत्तम पुरुष (first person) मध्यम पुरुष (second person) और प्रथम पुरुष (third person) एक दूसरे में बदल सकते हैं।

इसका एक उदाहरण महीधर भाष्य से ही दिया जाता है। देखो यजुर्वेद अ० ७ मन्त्र ४५ पर महीधर भाष्य पृष्ठ १३१ ॥ मन्त्र में ' विपश्य ' शब्द लिखा है जिसका अर्थ है 'तू देख' (अर्थात् मध्यम पुरुष एक वचन आज्ञा Imperative mood में) परन्तु महीधर लिखते हैं।

" विपश्य विपश्यामि विलोकयामि । व्यत्ययो बहुलम्
इति उत्तमपुरुषस्थाने पश्येति मध्यमः पुरुषः " ॥

अर्थात् उसका अर्थ ' मैं देखता हूं ' ऐसा करते हैं।

(६) काल—वेद में वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् एक दूसरे में बदल सकते हैं। जैसे कहीं लिखा हो कि ईश्वर पृथ्वी को धारण किए हुए था, आप अर्थ कर सकते हैं कि ईश्वर पृथ्वी धारण कर रहा है इत्यादि।

(७) हल्—अर्थात् व्यञ्जन (consonants) सब एक दूसरे में बदल सकते हैं ह् का ध, क् का प् इत्यादि हो सकता है।

(८) अच्—अर्थात् स्वर एक दूसरे में बदल सकते हैं अ का इ, उ का ए, इत्यादि हो सकते हैं।

(९) स्वर—उदात्त, अनुदात्त स्वरित् मन्त्रों, के उच्चारण के स्वर (जो मन्त्रों के शब्दों पर लकीरें बना कर लिखे जाते हैं) वह सब परस्पर बदल सकते हैं।

(१०) कर्तृ और यङ् प्रत्ययहार शेष कृदंततद्धितादि और बहुत सी बातें बदल सकती हैं।

अब आप स्वयं विचारें जिस भाषा के अक्षर तक बिल्कुल बदल सकते हैं उस भाषा के ग्रन्थ अर्थात् वेद के मन्त्रों का असली तात्पर्य और अर्थ ईश्वर जो उसका कर्त्ता है या ऋषि लोग जो समाधि में ईश्वर से मिलते हैं जान सकते हैं, सिवाय उनके और कौन जान सकता है।

हमारे लौकिक संस्कृत के पण्डित अज्ञानवश प्रायः कह उठते हैं कि देखो शब्द का रूप और था परन्तु स्वामी दयानन्द ने अर्थ दूसरे रूप के किए। परन्तु वे नहीं जानते हैं कि वैदिक संस्कृत की व्याकरण ही ऐसा है कि जितना बुद्धिमान् मनुष्य होगा वैसा ही अर्थ व्याकरण के अनुसार कर सकता है। लौकिक संस्कृत में वह शब्द अशुद्ध हो परन्तु वैदिक संस्कृत में वह शुद्ध है। जैसे परमात्मा की बनाई हुई सब वस्तुएं यथार्थ रूप में सिवाय योगी के और कोई नहीं समझ सकता, ठीक इसी तरह वेद का अर्थ भी सिवाय योगी के और नहीं समझ सकता।

शायद वैदिक संस्कृत के इतनी लचीली होने के ही कारण भारतवर्ष में संस्कृत के बड़े २ विद्वानों में वेद के विषय में मतभेद रहा है।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक व्याकरण का अपने भाष्य में बहुत ही सहारा लिया है। महीधर ने उसका बहुत कम सहारा लिया, अधिकतर लौकिक संस्कृत की व्याकरण का सहारा लिया है इसलिये स्वामी जी का भाष्य अधिक अच्छा है।

तीसरी पौराणिक शैली में तो व्याकरण के बिल्कुल विरुद्ध ही तात्पर्य्य समझा जाता है। इस कारण वह बिल्कुल असत्य और धोखा देने वाली है।

दूसरी कसौटी थी कि वेदभाष्य संस्कृत कोश के अनुसार हो। यह इसलिए रक्खी थी कि मानो कि संस्कृत व्याकरण के

ज़ोर से कुछ विचित्र अर्थ कर दिए जब तक किसी कोश में वह अर्थ न हो तब तक अमान्य हैं।

जैसा पहिले बताया जा चुका है कि संस्कृत दो प्रकार की है—एक वैदिक, दूसरी लौकिक। दोनों संस्कृतों के कोश भी भिन्न भिन्न हैं। वैदिक संस्कृत का कोश निघण्टु है जिसकी टीका निरुक्त नाम से प्रसिद्ध है। और लौकिक संस्कृत का कोश अमर कोशादि हैं। वेद वैदिक संस्कृत में हैं इसलिए वेद का अर्थ वैदिक संस्कृत कोश के अनुसार ठीक होगा। लौकिक संस्कृत कोश से यदि वेद का भाष्य किया जावेगा तो वह अवश्य अशुद्ध होगा।

इस कसौटी से यदि हम देखें तो स्वामी दयानन्द की वेद-भाष्य शैली अर्थात् नैरुक्तिक शैली ही ठीक उतरती है बाक़ी दोनों शैली फ़ेल हो जाती हैं।

इस पर प्रमाण और उदाहरण लीजिए।

देखो यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र २८। इस मन्त्र का पहिला टुकड़ा 'नमः श्वभ्यः' है ॥

इसपर महीधर भाष्य पृष्ठ ३०१ देखो। महीधर इसका अर्थ करता है कि "श्वानः कुक्कुरास्तद्रूपेभ्यो नमः इति नमस्कार मन्त्राः"

अर्थ—कुत्तारूप जो रुद्र भगवान् हैं उनको नमस्कार है वास्तव में इसका शब्दार्थ महीधर के लौकिक कोश के अनुसार 'कुत्तों को नमस्कार हो' यह था महीधर दिल में सोचने लगे होंगे कि कुत्तों को नमस्कार करना ठीक नहीं। इस कारण अपने आप कुत्तों को रुद्र का रूप गढ़ा जो मन्त्र में कहीं नहीं और अर्थ किया कि कुत्तारूपी रुद्र को नमस्कार हो।

इस मन्त्र के टुकड़े का अर्थ स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य (द्वितीयभाग पृष्ठ १६४०) पर इस प्रकार किया है। "पदार्थ (हिन्दी) लोग (श्वभ्यः) कुत्तों को (नमः) अन्न देवें" ।

महीधर ने लौकिक कोश अमरादि का सहारा लिया। उनमें नमः के अर्थ केवल नमस्कार के हैं अन्न के नहीं। प्रत्युत स्वामी दयानन्द ने निघण्टु का सहारा लिया उसमें नमः के अर्थ अन्नादि के हैं।

एक और उदाहरण लीजिए।

देखो यजुर्वेद अध्याय ५ मन्त्र २ का टुकड़ा।

" उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि "।

महीधर लौकिक संस्कृत के कोश के अनुसार इसका निकृष्ट अर्थ करते हैं (देखो महीधर भाष्य पृष्ठ ७७)

" हे अधरारणे त्वमुर्वशी असि यथोर्वशी पुरूरवो नृपस्य भोगायाधस्ताच्छेते तद्वत् त्वमधोऽवस्थितासीत्यर्थः—हे उत्तरारणे त्वं पुरूरवा असि यथा पुरूरवा नृप उर्वश्या अभिमुख उपरि वर्तते तथा त्वमपीत्यर्थः

अर्थः— हे नीचे की अरणि (यज्ञ की लकड़ी) तुम उर्वशी हो। जैसे उर्वशी (अप्सरा) पुरूरवा राजा के भोग के लिये नीचे सोती है उसी तरह तुम नीचे स्थित हो। हे ऊपर की अरणी (यज्ञ की लकड़ी) तुम पुरूरवा हो जैसे पुरूरवा राजा उर्वशी के सामने ऊपर होते हैं वैसे तुम भी हो अर्थ यह है।"

यह अर्थ ऐतिहासिक है क्योंकि इस में राजा पुरूरवा और उर्वशी की उपमा दीगई है और लौकिक कोशों के आधार पर किया गया है तभी इतना निकृष्ट है। यह बिल्कुल असत्य है क्योंकि न तो वैदिक कोश के अनुसार है और न युक्ति से ही ठीक है। वेद जैसे पवित्र ग्रन्थ में ऐसी उपमाएं उचित नहीं। दूसरे यदि इतिहास वेद में है तो सिद्ध होगा कि वेद राजा पुरूरवा और उर्वशी के बाद बने। फिर वेद आदि सृष्टि से तथा ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकते। इस लिए महीधरादि ऐतिहासिक वेदभाष्यकारों की शैली सर्वथा त्याज्य

हैं। अब इसी मन्त्र का स्वामी दयानन्द का भाष्य सुनिए।
देखो स्वामी जी का भाष्य (प्रथम भाग पृष्ठ ३७०)

"जो (उर्वशी) बहुत सुखों के प्राप्त करने वाली क्रिया (असि) है — जो (पुरूरवाः) बहुत शास्त्रों के उपदेश करने का निमित्त है,,

इस मन्त्र के आरम्भ में स्वामी जी पृष्ठ ३६८ पर लिखते हैं। "फिर यह यज्ञ कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।,,

अब आप वैदिक कोश निघण्टु को उठाइये और उसमें देखिये कि पुरूरवा और उर्वशी का क्या अर्थ लिखा है। उर्वशी निघण्टु अध्याय ४ पाद २ में सैंतालीसवां शब्द है और पुरूरवाः निघण्टु अध्याय ५ पाद ४ का बत्तीसवां शब्द है। इनका अर्थ निघण्टु के टीकाकार निरुक्तकर्त्ता इस प्रकार करते हैं।

"उर्वशी–उर्वभ्यश्नुते........" इत्यादि

निरुक्त अ० ५ खं० १३ वि० १

"पुरूरवा बहुधा रोरूयते"

निरुक्त अ० १० खं० ४६ वि० २

अर्थः—'उर्वशी उसको कहते हैं जो बहुतों को सब प्रकार व्याप्त हो वा प्राप्त हो।

पुरूरवा उसको कहते हैं जो बहुत शब्द करने वाला हो" स्वामी जी इस मन्त्र का अर्थ निरुक्त के ही आधार पर करते हैं कि यज्ञ उर्वशी है अर्थात् यज्ञ बहुतों (अर्थात् बहुत सुखों) से व्याप्त है। इसलिए बहुत सुख प्राप्त कराने वाली क्रिया उसको कहा गया है। यज्ञ पुरूरवा है। शब्दार्थ हुआ "बहुत शब्द करने वाला है" तभी स्वामी जी अर्थ करते हैं कि बहुत शास्त्रों के उपदेश का निमित्त है अर्थात् यज्ञ में ही लोग उपदेशादि देने से शब्द करते हैं तभी यज्ञ को बहुत शब्द करने वाला कहा गया है।

अब आप समझ गये होंगे कि वास्तव में निस्सन्देह स्वामी

जी की वेदभाष्य शैली वा नैरुक्तिक शैली ही सत्य अर्थ दे सकती है। ऐतिहासिक शैली मूर्खता और अश्लील क़िस्से और कहानियों का अर्थ देती है जो बिलकुल असत्य है। तीसरी पौराणिक शैली वाले जो वेदमन्त्र का एक शब्द लेकर उसका अभिप्राय समझते हैं वह शब्दार्थ वैदिक कोश के अनुसार नहीं समझते, न लौकिक कोश के अनुसार किन्तु मनमाना अर्थ लेलेते हैं और आप देख चुके हैं कि उन्होंने शब्द दधि से जिसका अर्थ सबने धारण करने वाला लिया है दही समझा। इसी तरह प्रेत का अर्थ सब ने 'ज़ोर से जाओ' ऐसा किया परन्तु इन्होंने 'भूत प्रेत' अर्थ लिया। यह तीसरी शैली तो सराबर गढ़न्त ही है, इसमें कोश व्याकरण का प्रवेश कहां?

लोग कह सकते हैं कि कोश से बहुत शब्द देख कर लोग इधर उधर से ऐसे शब्द भी निकाल कर भाष्य कर सकते हैं जो न लग सकते हों। और वैदिक व्याकरण तो बहुत ही विस्तृत आज्ञा देती है। उससे मनमाना भाष्य हो सकता है परन्तु प्रमाणित विद्वानों ने जिस भाष्य शैली पर भाष्य किया हो वही शैली मानने योग्य है।

इस शङ्का के लिए तीसरी कसौटी रक्खी है। जैसा ऊपर बता आए हैं कि 'वृत्र' शब्द की निरुक्ति पर यास्काचार्य्य, जो स्वामी दयानन्द से हज़ारों वर्ष पूर्व हुए, स्पष्टतया लिखते हैं कि वेदभाष्यकार नैरुक्तिक और ऐतिहासिक दो प्रकार के हैं। दूसरे नैरुक्तिक शैली आदि सृष्टि से निघण्टु के समय तक थी क्योंकि निघण्टु में इतिहास नहीं है। बाद से ब्राह्मणग्रन्थों के समय से ऐतिहासिक शैली का जन्म हुआ।

आदि सृष्टि के ऋषि वेदप्रचारक होने के कारण अधिक माननीय हैं और बाद वाली शैली माननीय नहीं। इस कारण वास्तव में स्वामी जी ने बड़ा ही उपकार किया जो आदि सृष्टि के ऋषियों की वेदभाष्य शैली को पुनर्जीवित किया। इस लिए यही शैली सत्य है और सब शैलियां पीछे की गढ़न्त हैं।

चौथी कसौटी यह थी कि जो मन्त्र कहे वही विनियोग हो अर्थात् वही काम करने में वह मन्त्र पढ़ा जावे। संक्षेपतः यह कसौटी बताती है कि अर्थ के अनुकूल विनियोग होना चाहिये। यजुर्वेद अ० ६ मन्त्र १५ का टुकड़ा लीजिये।

"स्वधिते मैन ॐ हिॐसीः ॥

"स्वधित इति प्रज्ञातयाभिनिधाय छिन्त्वेति (का० ६।६।९) महीधर का अर्थः— "असिधारां निधाय तूष्णीं सतृणामुदरत्वचं छिन्द्यादिति सूत्रार्थः एनं पशुं स्वधिते मा हिंसीः"

अर्थ हिन्दी में:—'स्वधिते मैनॐ हिॐसीः' यह पढ़कर जानी हुई अर्थात् चिन्ह की हुई तलवार की धार रख कर चुपचाप तिनकों (जो पशु के पेट पर रक्खे हैं) के साथ पशु के पेट की खाल को काटे। यह कात्यायन सूत्र का अर्थ है। (मन्त्र का अर्थ यह है कि) हे परशु इस पशु को मत मार।'

आप यहाँ देखें कि मन्त्र का अर्थ है मत मारो और इसी मन्त्र को पढ़कर मारना महीधर अर्थ करते हैं और कात्यायन सूत्र का विनियोग पर प्रमाण देते हैं।

इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती (यजुर्वेद भाष्य प्रथम् भाग में पृष्ठ ५०१, ५०२, और ५०३) इस प्रकार करते हैं :—

"अस्य विद्वांसो देवताः"।····

(स्वधिते) स्वेष्वात्मीयेषु धितिः पोषणं यस्याः तत्सम्बुद्धौ (मा) निषेधे (एनम्) पूर्वोक्तम् (हिंसीः) कुशिक्षया लालनेन वा मा विनाशयेः"

"(पदार्थ भाषा में लिखा है कि) हे (स्वधिते) प्रशस्ताध्यापिके ! तू इस कुमारिका शिष्या······को अयोग्य लाड़ना मत दे"

इस मन्त्र का देवता अर्थात् विषय विद्वान् है इस लिए विद्वानों के विषय में यह मन्त्र उपदेश देता है। स्वधिति शब्द की निरुक्ति यास्काचार्य ने नहीं की इस लिए स्वामी जी ने स्वयं इस की निरुक्त (अर्थात् धातु से अर्थ निकालना) की है।*

यदि हम निघण्टु वैदिक कोश की मूल में देखें तो स्वधिति शब्द अध्याय २ पाद २ में वज्रों के नामों में पढ़ा गया है। हम स्वधिति का अर्थ वज्र लेकर भी स्वामी जी का ही अर्थ कर सकते हैं। मन्त्र का देवता अर्थात् विषय विद्वान् हैं, इस कारण हम लुप्तोपमा अलङ्कार से अर्थ ले सकते हैं कि स्वधिति अर्थात् वज्र के सदृश तेज़ विद्वान् (अर्थात्—बुद्धि में बहुत तेज़) अध्यापक तू शिष्य को मत नाश कर इत्यादि।

ख़ैर कुछ भी हो कम से कम महीधर ने जो अर्थ किया है उसके विरुद्ध काम में उस मन्त्र को विनियुक्त किया है। परन्तु स्वामी जी ने जैसा अर्थ किया है वैसे ही उपदेशरूपी कार्य्य में इस मन्त्र का उपयोग बताया है।

पांचवीं कसौटी है कि अर्थ युक्ति वा तर्क संगत हो। महीधर का अर्थ कात्यायन सूत्रों के अनुसार है। एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि ऐतिहासिक भाष्यकार महीधर अपने विनियोग की पुष्टि में कात्यायन श्रौत सूत्र उपस्थित करते हैं और कात्यायन आदि श्रौत सूत्र कल्प माने गये हैं जो एक वेदाङ्ग है अर्थात महीधर एक वेदाँग (कल्प नाम वाले) को अपने अर्थों की पुष्टि में उपस्थित करते हैं। प्रथम तो कात्यायन श्रौत सूत्रों में महापातकी तथा बुद्धिशून्य विनियोग लिखा है, दूसरे हम पूर्व प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं कि वेदाँग बाद को बने, उनके पूर्व ब्राह्मणग्रन्थ बने और

---

* नोटः—स्वामी जी की संस्कृत का शब्दार्थ यह है कि अपने अधीन है पोषण जिसका उसका सम्बोधन है हे स्वधिते तू ऊपर कहे हुए का कुशिक्षा और खिलाने से नाश मत कर।

उनसे पूर्व निघण्टु बना। इससे सिद्ध होता है कि नैरुक्तिक शैली वालों के लिए जो वेदांगों से भी प्राचीन है अर्थ करने में वेदांग कल्प (नामक) का जो बाद को बना, सहारा लेने की आवश्यकता नहीं और नैरुक्तिक लोग जो अर्थ मन्त्र कहता है उसी कर्म में मन्त्र को विनियुक्त करते हैं। कल्पनामक कात्यायन श्रौत सूत्रों में इतने ख़राब और मूर्खता के कार्य हैं कि वे सर्वथा त्याज्य हैं। तीसरे वेद स्वतः प्रमाण है। उसके अर्थ करने में कल्पादि का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। कल्प अर्थात् यज्ञादि करने की विधि वही ठीक हो सकती है जो मन्त्रार्थ के अनुकूल हो।

कात्यायन श्रौत सूत्रों में जो वेद मन्त्र पढ़ २ कर कर्मविधान किया है उसको सुनकर आपके रोंगटे खड़े हो जावेंगे। कुछ कात्यायन श्रौत सूत्रों के उदाहरण सुनिये जिनको महीधर ने अपने अर्थों की पुष्टि में लिखा है और जिनके अनुकूल वेदभाष्य किया है।

यजुर्वेद अ० २३ मन्त्र २० का विनियोग कात्यायन श्रौत सूत्र में इस प्रकार लिखा है।

" अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति '

कात्यायन श्रौत सूत्र अ० २० कण्डिका ६ सूत्र १६ इस सूत्र का अर्थ महीधर उक्त मन्त्र का भाष्य करते हुए पृष्ठ ४३६ पर इस प्रकार करते हैं।

" महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति "।

भाषा में अर्थ—" वृषा वाजी इत्यादि मन्त्र पढ़ती हुई रानी (यजमान की स्त्री) स्वयं घोड़े का लिंग अपनी उपस्थ इन्द्रिय में करती है। अर्थात् घोड़े से रानी व्यभिचार करती है " (आगे चलकर घोड़ा मारने और उसके मांस से हवन करने का उपदेश है) और बहुत सी ऐसी ही कहने के अयोग्य अश्लील बातें

इस स्थल के मन्त्रों के अर्थों में लिखी हैं। क्या इससे भी भयंकर पाप का उपदेश कोई ग्रन्थ दे सकता है ?

दूसरा उदाहरण लीजिए।

कात्यायन सूत्रों के अनुसार ही एक लम्बा विनियोग लिखते हैं कि "पुरुषाश्वगोऽव्यजानालभ्याजेन यागं कृत्वा पंचानां शिरांसि घृताक्तानि···संस्थाप्य तेषां कबन्धात् यज्ञशेषं च मृद्युक्ते तडागादिजले प्रास्येत् उखार्थमिष्टकार्थं च मृदं मलं च तत एवादेयम्"

भाषा में अर्थ—मनुष्य, घोड़ा, गाय, भेड़, बकरी इन पांचों को मार कर बकरी से यज्ञ करके पांचों के सिरों को घी से लपेट कर, रख कर उनके धड़ों को और यज्ञ से जो बचा हो उसको मिट्टी मिले हुए तालाबादि के जल में फेंक दे उसी से मिट्टी और जल (यज्ञ की) बरसिया और ईंटें बनाने के लिए लेनी चाहिए ॥

आप देखिये कि मनुष्य और गाय मार डालने की आज्ञा महीधर कात्यायन के मतानुसार देते हैं। क्या इससे भी अधिक पाप कोई ग्रन्थकार करा सकता है ? बस एक उदाहरण और देकर कात्यायन श्रौत सूत्र का विषय समाप्त किया जावेगा ॥

यजुर्वेद अ० १७ मन्त्र ४ का विनियोग कात्यायन श्रौत सूत्र अ० १७ कण्डिका २ सूत्र १० में इस प्रकार लिखता है कि जिसका उल्लेख महीधर ने अपने भाष्य में किया है। "मण्डूकावकावेत सशाखा वेणौ बद्ध्वावकर्षति ·····समुद्रस्य त्वेति"।

महीधर का अर्थ–मण्डूकि शैवलवेतस तरुशाखा वंशे बद्ध्वा तं हस्तेनादायाग्निक्षेत्रं प्रत्यञ्चं कर्षति। "

भाषा में अर्थ—" मेंढक सेवारघास और बेत वृक्ष की शाखा को बांस में बांधकर हाथ में पकड़ कर अग्नि के क्षेत्र को समुद्रस्यत्वा इत्यादि मन्त्र पढ़ता हुआ खरोंचता है '।

आप देखिए इससे बढ़कर और क्या मूर्खता हो सकती है। यह मानते हुए भी कि कात्यायन श्रौत सूत्र वैदिक संस्कृत में होने के कारण पुराने हैं और कल्परूपी वेदाँग कहे जाते हैं परन्तु उनका विनियोग और उसके अनुसार किया गया वेदार्थ महापाप और परले दर्जे की मूर्खता सिखाता है। इसलिए कात्यायन श्रौत सूत्र तथा उनके अनुसार किया गया ऐतिहासिक शैली का भाष्य सर्वथा त्याज्य है क्योंकि वह युक्ति और तर्क से किसी तरह ठीक नहीं हो सकता। युक्ति और तर्क तो अलग रहे वह तो उन अपराधों का उपदेश देता है जिन में फांसी आदि तक की सज़ा आजकल की सब सभ्य सरकारें देती हैं। आश्चर्य इस बात का है कि कात्यायन श्रौत सूत्रकार को उसके समय की सरकार ने क्यों सज़ा नहीं दी। शायद उस समय की सरकार भी वाम मार्गी होगी।

तीसरी शैली जो पौराणिक है उसमें युक्ति वा तर्क अथवा बुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। आप देख ही चुके हैं कि मन्त्र का एक शब्द लेकर उसका अशुद्ध, अपने स्वार्थनुसार प्रयोजन समझ कर उसके सत्य अर्थ के विरुद्ध पौराणिक लोग मन्त्रों से पौराणिक कृत्य कराते हैं। इस कारण यह शैली भी बिल्कुल मिथ्या सिद्ध हुई॥

यह जानना कठिन है कि पौराणिक शैली कब से चली और किन कारणों से चली। वास्तव में वेदों से लगाकर निघण्टु के समय तक जो ऋषि होते थे वे अर्थ सहित सब कण्ठस्थ कर सकते थे। बाद को ब्राह्मणग्रन्थ बहुत बड़े बने। उसके बाद वेदांगादि और बड़े ग्रन्थ बने तब लोगों के सामने दो समस्याएं उपस्थित हुई होंगी कि या तो केवल मूलमात्र कण्ठस्थ करतें या थोड़े विषय को कण्ठस्थ कर उसका अर्थ भी जानलें॥

यही विचार डाक्टर बूह्लर का है। वह मनुस्मृत की भूमिका में (सेक्रेड बुक्स आफ़ दी ईस्ट सीरीज़ पृष्ठ १६ XVI)में लिखते हैं:—

"The members of the Vedic Schools were then placed before two alternatives. They might either commit to memory all the Vedic texts of their Shakhas together with their Angas, renouncing the attempt at understanding what they learnt, or they had to restrict the number of treatises which they learnt by heart while they thoroughly mastered those which they acquired. Those who adhered to the former course became living libraries but were unable to make any real use of their learning."

अर्थः—वेदों के पढ़ने वालों के सामने तब दो समस्याएं थीं। या तो वे अपनी सम्पूर्ण शाखाओं के मन्त्र उनके वेदांग सहित कण्ठस्थ करें और जो कुछ पढ़ें उसका अर्थ जानने का प्रयत्न न करें, या वे कण्ठस्थ करने वाली पुस्तकें कम करें जिनको वे कण्ठस्थ भी करें और जिनका अर्थ भी अच्छी तरह जानें। जिन्होंने पहिला मार्ग स्वीकार किया वे जीवित पुस्तकालय होगए परन्तु अपने पढ़ने का कोई वास्तविक लाभ न उठा सके।"

वेदांगों के बाद से जब बहुत दिन बिना अर्थ के वेद कण्ठस्थ करने होगये तो अपने स्वार्थ के लिए प्राणप्रतिष्ठा मृतकश्राद्धादि कार्यों में वे लोग वेदमंत्र पढ़ने लगे और लौकिक संस्कृतमें पोपलीला की पद्धतियाँ रचने लगे। अब भी वर्त्तमान सनातनधर्मावलम्बियों में ऐसे वेद पाठ कहाने वाले पण्डित हैं जो वेदों को स्वरसहित इधरसे उधर तक मौखिक पढ़ सकते हैं परन्तु अर्थ एक शब्द का भी नहीं जानते, वास्तव में अपनी प्रतिष्ठा रखने के लिए यह कहते हैं कि मंत्रों में अर्थ नहीं किन्तु शक्ति है जैसे सांप का या बिच्छू का मंत्र बिना अर्थ के विष उतारता है ऐसे ही वेदमंत्र पढ़ने से पुण्यादि उत्पन्न

करता है, औषधि की तरह प्रभाव रखता है। जो मन्त्रों के अर्थ ही न कर सकते हों उनकी मंत्र प्रयोग करने की रीति तथा उनका तात्पर्य्य समझने की शैली सिवाय मूर्खता के और हो ही क्या सकती है ?

निरुक्तकार ने ऐसे मनुष्यों के लिए जो वेद कण्ठस्थ करते हैं परन्तु अर्थ नहीं जानते ऐसा लिखा है।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न जानाति योऽर्थम्" नि० अ० १ खं० १८।

अर्थः—जो वेद पढ़कर अर्थ नहीं जानता वह वास्तव में ठूँठ है, बोझ ढोने वाला पशु है, इसलिए पौराणिक शैली भी ऐतिहासिक से बढ़कर मूर्खता से पूर्ण है।

केवल नैरुक्तिक शैली का किया हुआ भाष्य युक्ति वा तर्कानुकूल है इस कारण वह शैली इस कसौटी से जाँचने पर भी ठीक उतरी, सक्षेपतः स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य शैली जो नैरुक्तिक है सर्वोत्तम है क्योंकि वह वैदिक व्याकरण और वैदिक कोश निघण्टु के अनुकूल अर्थ देती है। वह वेदभाष्य सब शैलियों से प्राचीन आदि ऋषियों की शैली है। इसके अनुसार किया गया भाष्य युक्ति वा तर्क से भी ठीक सिद्ध होता है। इसलिए सब आर्य्यों का कर्त्तव्य है कि वे इस नैरुक्तिक शैली का अधिक प्रचार करें ताकि पाश्चात्य विद्वान् तथा भारत के अन्य विद्वान् इसको स्वीकार करें जो अज्ञानवश अभी तक ऐतिहासिक और पौराणिक शैली को ही स्वीकार किये हुए हैं।

कर्म-सिद्धान्त

तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । ऋग्वेद ।

सिद्धान्त का महत्व ।

कर्म और कर्म फल का सिद्धांत धर्म का आधार है । धर्म और अधर्म की व्यवस्था का नाम ही कर्म सिद्धान्त है । यदि मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदाता नहीं, यदि मनुष्य को अच्छे या बुरे कर्म का फल नहीं मिलता या कर्म क्षण भर में ही नष्ट हो जाता है, तो सभी उपदेश फिज़ूल हैं, सभी नियम अनुचित बन्धन हैं और सभी मत या मजहब निरे ढोंग हैं । धर्म अधर्म के उपदेश का मूलाधार यह विश्वास है कि धर्म पूर्वक कर्म करने का फल अच्छा और अधर्म पूर्वक कर्म करने का फल बुरा होता है । जो लोग धर्म और अधर्म की परिभाषा में बात चीत नहीं करना चाहते उन्हें भी किसी न किसी रूप में कर्म सिद्धान्त मानना ही पड़ता है। मान लीजिये कि उपयोगिता के आधार पर कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का निर्माण होता है । कोई कार्य उपादेय है, क्योंकि वह उपयोगी है । उपयोगी होने से इतनी बात अवश्य माननी पड़ेगी कि वह कार्य किसी विशेष उद्देश्य के लिए उपयोगी है । उस उद्देश्य—वह सुख हो या सन्तुष्टि-के लिए उपयोगी होने पर ही कोई कार्य उत्तम समझा जायगा । उसे उत्तम मानने के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक होगा कि उस कार्य विशेष के करने पर अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति अवश्य होगी । यदि यह निश्चय न हो तो कर्तव्य कर्तव्य की मीमांसा ही नहीं हो सकती । उपयोगितावादी को भी मानना पड़ेगा कि अमुक कार्य

करने से अमुक फल पैदा होगा बस यही कर्म सिद्धान्त है। धर्म का, कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का आधारभूत विचार फल-सिद्धान्त का ही है।

२-सिद्धान्त की व्यापकता-अचेतन संसार में।

कर्म के पाँच भेद हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। यह पांचों कर्म इच्छा पूर्वक भी हो सकते हैं, और अनिच्छा पूर्वक भी। चेतन के शरीर में यह इच्छापूर्वक होते हैं, और अचेतन के शरीर में अनिच्छा पूर्वक। यहां हम चेतन के इच्छा पूर्वक कर्म की व्यवस्था कर रहे हैं, परन्तु यदि हम अचेतन के अनिच्छापूर्वक कर्मों की ओर देखें तो वहाँ भी हमें कर्म और कर्म फल का सिद्धान्त दिखाई देता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म को 'विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरसंयोगहेतुश्च' (प्रशस्तपाद) माना गया है। कर्म से कर्मयुक्त पदार्थ का किसी वस्तु से संयोगनाश हो जाता है, और दूसरी वस्तु से संयोग हो जाता है। नई वस्तु से या नए प्रदेश से संयोग होने पर ही कर्म की प्रतीति होती है। हरेक कर्म एक नए संयोग को पैदा करता है। यह अचेतन कर्म फल है।

कर्म को वैशेषिकमत में क्षणिक माना है परन्तु वह दूसरे कर्म को जन्म दिये बिना नष्ट नहीं होता। कर्म से संस्कार और संस्कार से कर्म—यह क्रम बराबर जारी रहता है। कोई क्रिया संस्कार द्वारा क्रिया उत्पन्न किये बिना समाप्त नहीं होती। जिस समय एक फेंका हुआ पत्थर प्रत्यक्ष रूप में क्रिया को समाप्त करके पृथ्वी पर सो जाता है, उस समय भी उस पत्थर की क्रिया से उत्पन्न हुआ वेगाख्य संस्कार उन वायु के परमाणुओं में विद्यमान रहता है, जिन्होंने टाकर खाई है। वायु के परमाणुओं में उससे एक विशेष परिवर्त्तन पैदा हो जाता है। वह भी क्रिया का फल है।'

हर प्रकार का कर्म 'शक्ति' या 'Energy' का परिणाम है। विज्ञानद्वारा सिद्ध हो चुका है कि कोई भी 'शक्ति' बिल्कुल नष्ट नहीं होती. वह किसी न किसी रूप में सदा विद्यमान रहती है। शक्ति की अनश्वरता के सिद्धान्त को अंग्रेज़ी में 'Conservation of Energy, Indestructibility of Energy' के नाम से पुकारा जाता है, कोई अचेतन कर्म भी पैदा होकर यूं ही मर नहीं जाता। वह किसी न किसी रूपान्तर में रहकर अवश्य ही संसार पर अपना असर पैदा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अचेतन कर्म भी निष्फल नहीं होता, तब यह कल्पना तो कैसे की जा सकती है कि जो कर्म इच्छा पूर्वक किया जायगा, वह कर्म करने वाले पर कोई असर पैदा न करेगा।

३—सिद्धान्त की व्यापकता—चेतन संसार में

हरेक कर्म का फल होता है—इस सिद्धान्त को यदि कोई नास्तिक मुंह से न मानना चाहे तो भी वह व्यवहार में अवश्य मानता है। व्यवहार में ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त शायद ही कोई मिले। हरेक प्राणी दो प्रकार के कार्य कर सकता है। कई कार्य प्रकृतिजन्य कहाते हैं। वह छींकता है, खुजलाता है, आंख झपकाता है, यह कार्य इच्छापूर्वक नहीं होते। वह ऐसे भी कार्य करता है जो उसकी इच्छा का परिणाम होते हैं। ऐसे कार्य हमेशा फल की इच्छा से किये जाते हैं। छोटे से छोटा कार्य किसी न किसी फल की इच्छा से ही किया जाता है। वह हाथ हिलाता है, कुछ चीज उठाने को। वह खाना खाता है, भोजन की चाह मिटाने को। वह कपड़ा पहिनता है, अपने शरीर की शीत से रक्षा करने को। दिनरात मनुष्य फल की आकाँक्षा ही से कर्म करता है।

हमारे हरएक इच्छा पूर्वक कार्य में निम्न लिखित दो बातें मान ली जाती हैं—

(१) किसी फल सिद्धि के लिए कर्म का करना आवश्यक है।

(२) कर्म से फल सिद्धि होती है-कर्म निष्फल नहीं जाता॥

कहीं २ उन नियमों में व्यत्यय भी दिखाई देता है, परन्तु वहां साधारणतया यही प्रवृत्ति होती है कि कार्य के करने में भूल हुई है या कोई अदृष्ट विघ्न आगया है जिसने कर्म को ठीक पैदा करने से रोक दिया है। यदि कर्म और फल के आवश्यक सम्बन्ध पर मनुष्य का सहज विश्वास न होता तो उसकी कर्म में सहज प्रवृत्ति भी न होती। समस्त प्राणिसंसार में कर्मफल का सिद्धान्त सम्मत दिखाई देता है।

४—कार्य कारण सम्बन्ध का नियम

कर्म सिद्धान्त का मूल वही कार्यकारण भाव का व्यापी सिद्धान्त है। विज्ञान और तत्वज्ञान का वही मूलाधार है। हरेक कार्य के लिए कारण की आवश्यकता है और यदि कोई कारण हो, और उस का प्रतिबन्धक कोई दूसरा विशेष कारण न हो, तो उससे उचित परिणाम या कार्य भी उत्पन्न होना चाहिये। प्रतिदिन के अनुभव से यह नियम सिद्ध होता है। कार्य को देखकर हम झट उसके कार्य की कल्पना करलेते है, वह कार्य से कारण का अनुमान है। यदि हम किसी परिणाम को पैदा करना चाहते हैं, तो झटपट कारणों की सामग्री जुटाने लगते हैं। यदि हम कहीं किसी परिणाम विशेष को पैदा करने वाले कारणों को एकत्र होता देखते हैं तो समझ लेते हैं कि अब निन्यानवे फ़ी सदी सम्भावना है कि परिणाम उत्पन्न होजायगा। एक फ़ी सदी गुंजायश किसी आकस्मिक विघ्न की सम्भावना के कारण छोड़ देते हैं। बस, यही कार्यकारण भाव है। चेतन की जो क्रिया है वह भी एक कारण है, जिसके साथ फल या परिणाम का कार्यकारण भाव लगा हुआ है। यदि हम कहीं दुःख देखते हैं, तो उसकी कारणभूत बुराई की कल्पना कर

लेते हैं। यदि हम सुख चाहते हैं तो सुखके अनुकूल कार्य करने लगते है। सम्भव है कि हमने सुख और उसके साधनों का जो सम्बन्ध समझा है वह बिल्कुल अशुद्ध हो। जिस कार्य को हम सुखका साधन समझ रहे हैं वह दुःख का कारण हो, परन्तु उससे इस नियम में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती कि सुखकी अभिलाषा होने पर प्राणी उसके अनुसार सामग्री को एकत्र करता है। जब हम कहीं पर अपनी समझ के अनुसार भलाई या बुराई के कारणों को विद्यमान देखते हैं, तो मन ही मन में समझ लेते हैं कि भला या बुरा परिणाम उत्पन्न होने वाला है। किसी को शराब पीने की लत में पड़ता देखकर कह उठते है कि 'अब यह आदमी अवश्य बरबाद होगा' आर्थर यंग ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति से कई वर्ष पूर्व उस देश को देखकर समझ लिया था कि वहां क्रान्ति अवश्य होगी, बस, यही कार्यकारण भाव का अनुभव है। चेतन और अचेतन संसार में कार्य और कारण का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। विज्ञान और तत्वज्ञान उसी के आधार पर खड़े किये जाते हैं। वह हर प्रकार की उन्नति को मूल शिला है।

५—कर्म सिद्धान्त का स्वरूप

भारत के तत्वज्ञान में मनुष्यों के इच्छा पूर्वक किये गये कर्मों के उत्पन्न होने वाले गुणों का नाम 'धर्माधर्म' रखा गया है। चेतन की क्रिया को चेष्टा कहते हैं। क्रिया या चेष्टा जो इच्छापूर्वक हो, वह धर्म या अधर्म को आत्मा में उत्पन्न करती है, और उससे सुख या दुःख उत्पन्न होते है। विहित कर्म से धर्म और निषिद्ध कर्मों से अधर्म होता है-यह मीमांसा की कथन शैली है। भारतीय दर्शनों का कर्म सिद्धान्त संक्षेप में इतना है-

मनुष्य इच्छापूर्वक जो कार्य करता है, वह धर्माधर्म कहा जाता है। वैशषिक दर्शन में कहा है-

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ।

धर्म या अधर्म में जो प्रवृत्ति होती है वह इच्छा या द्वेष पूर्वक ही होती है। इच्छापूर्वक जो भला या बुरा काम किया जाता है, वह करने वाले के सम्बन्ध में अवश्य ही फल दायक होता है। किये का फल भोगना होता है। बस संक्षेप में इतना कर्म सिद्धान्त है परन्तु इसमें पेचोदगियां बहुत सी हैं। उन पेचोदगियों को साफ़ करने की चेष्टा हम आगे चलकर करेंगे। कुछ पेचीदगियां ऐसी भी हैं जिन्हें हम इस निबन्ध में नहीं दे सकते। बुरा किसे कहते हैं। भला कौन है? इत्यादि प्रश्नों पर इस निबन्ध में विचार नहीं होगा। यहां तो लोकसम्मत भलाई और बुराई को ही मान लिया गया है।

हम कर्मों के दो भेद कर चुके हैं। एक वह कर्म जो अचेतनों के हैं। उन कर्मों का भी फल होता है, परन्तु क्योंकि वहां इच्छा नहीं है, इस कारण उसका कोई आत्मिक महत्व नहीं है। इच्छा होनेसे कर्त्ता की उत्तरदायिता बन जाती है। धर्माधर्मशास्त्र में उसी कर्म पर विचार होसकेगा, जो इच्छा या द्वेष से किया गया हो। कुछ अधिक लौकिक भाषा में हम कह सकते हैं कि इच्छा पूर्वक किये गये कर्म ही आत्मिक फल—अर्थात् सुख या दुःख—को पैदा कर सकते हैं। द्वेष भी बुराई या बुरे से बचने की इच्छा का ही नामान्तर है। जहां इच्छा नहीं है वहां उत्तरदायिता भी नहीं रह सकती जहां इच्छा पूर्वक कार्य होता है वहां उत्तरदायिता अवश्य रहती है। कर्म सिद्धान्त को मानने के लिये चेतन मनुष्य को अपने कर्मों के लिए उत्तरदाता मानना पड़ेगा। जो लोग आत्मा की उत्तरदायिता (Responsibility of the soul) को नहीं स्वीकार करते, वह कर्म सिद्धान्त को नहीं मान सकते।

इच्छा पूर्वक जो भला काम किया जाय वह धर्म और जो बुरा काम किया जाय वह अधर्म कहलाता है। धर्म अधर्म मनुष्य में

(आत्मा या चित्त के झगड़े में हम यहां नहीं पड़ेंगे) रहते हैं। मनुष्य इनका फल भोगता है। धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। यह आवश्यक है। कार्य कारण भाव का जो नियम है, वह इस से उल्टा परिणाम नहीं पैदा होने देगा। इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार धर्म और अधर्म गुण कहलाते हैं।

६—मनुष्य की उत्तरदायिता

किसी फल की आकांक्षा का नाम ' इच्छा ' है। यदि 'फल' कोई वस्तु नहीं तो ' इच्छा ' भी कोई वस्तु नहीं। ' फल ' की अपेक्षा से ही ' इच्छा ' पैदा होती है। जो कार्य इच्छा पूर्वक किया जाता है, वह किसी फल की आकाँक्षा से ही किया जाता है। जो मनुष्य इच्छापूर्वक कार्य करता है, वह किसी न किसी फल का अधिकारी है। इसी का नाम ' उत्तरदायिता ' है। मनुष्य अपने इच्छापूर्वक किये हुए कर्म का ज़िम्मेदार है, क्योंकि वह परिणामों को सामने रखकर कार्य करता है। जो लोग इच्छा के बिना किये गये कर्मों का फल होता है या नहीं, इस प्रश्न पर विचार करते हैं, उन्हें एक भेद हमेशा सामने रखना चाहिये, दुनिया में अचेतन क्रिया का भी फल अवश्य होता है, पहाड़ पर से एक पत्थर गिरता है तो कई वृक्षों को गिरा देता है। बहुत पानी इकट्ठा हो जाता है तो बन्दे टूट जाते हैं। दृश्यमान् जगत् में हरेक क्रिया किसी न किसी परिणाम को पैदा करती है। तब मनुष्य के इच्छा के बिना किये हुए काम भी परिणाम को तो अवश्य उत्पन्न करेंगे, परन्तु मनुष्य उनके लिए उत्तरदाता नहीं ठहराया जायगा। मनुष्य उन्हीं कर्मों के लिए उत्तरदाता हो सकता है जो इच्छा पूर्वक किये गये हैं। इसी का नाम 'उत्तरदायिता का सिद्धान्त' है।

७-दृष्ट और अदृष्ट फल

हम दृष्ट से अदृष्ट का अनुमान लगाते हैं। हम दृष्टान्तों से सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं, और उदाहरणों से व्याप्ति की स्थापना करते हैं। 'तत्पूर्वकमनुमानम्' अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि इच्छापूर्वक किये गये कर्म किसी न किसी परिणाम को पैदा करते हैं। सौ में से निन्यानवे फ़ी सदी अवस्थाओं में चेतन की इच्छा पूर्वक चेष्टा का फल दिखाई देता है? एक फ़ी सदी अवस्थाएं ऐसी दिखाई देती हैं, जिनमें प्रत्यक्षरूप से कोई फल दिखाई नहीं देता। क्या वहां कोई फल उत्पन्न ही नहीं होता?

हम प्रत्यक्ष जगत् में देखते हैं कि बहुत से कर्म तत्काल फल को उत्पन्न नहीं करते, बहुत समय लेते हैं। किसी मनुष्य को शराब पीने की आदत पड़ गई है–उस पर एक दम कोई बुरा असर दिखाई नहीं देता; बहुत काल पीछे, परन्तु निश्चय से शराब अपना असर दिखाती है। एक मनुष्य बिलकुल सच्चा व्यापार करता है, शायद तत्काल उसे कोई लाभ न होगा, परन्तु निश्चय है कि समय पाकर उसका व्यापार दूसरों से बाज़ी ले जायगा। इन दृष्टान्तों से प्रतीत होता है कि मनुष्य के कर्म समयान्तर में भी फल को पैदा करसकते हैं। इन दृष्टान्तों से हम एक सिद्धान्त बना लेते हैं। इच्छा पुर्वक किये हुए कर्म मनुष्य को सुख दुःखादि किसी न किसी रूप में फल देने वाले अवश्य होते हैं। बहुत से कर्म ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष फल दिखाई नहीं देता। ऐसे स्थानों में अनुमान प्रमाण से काम लिया जाता है। जो एक फ़ी सदी कर्म ऐसे हैं कि जिनका प्रत्यक्ष फल नहर दिखाई देता, उन में अप्रत्यक्ष फल की कल्पना करनी पड़ती है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हमने एक इच्छा पूर्वक कर्म किया, उसका फल हमें दो वर्ष में मिलेगा, तब उस कर्म और फल के

सम्बन्ध को जोड़ने वाली चीज़ कौन सी है? कारण और कार्य में सम्बन्ध जोड़ने के लिए कोई सूत्र भी तो चाहिये। ऐसा तो नहीं हो सकता कि मैंने आज गुलाब का इत्र छिड़का, और दस वर्ष पीछे उस से सुगन्धि पैदा होगी। हां-ऐसा अवश्य हो सकता है कि मैं आज बीज बोऊं और कई दिन पीछे अंकुर उत्पन्न हो। वह अंकुर इस कारण उत्पन्न हो सका, क्योंकि बीज भूमि में तिरोहित रूप से विद्यमान था। जो कर्म देर से फल को उत्पन्न करते हैं, वह किसी न किसी रूप में कर्त्ता और भोक्ता के अन्दर विद्यमान रहते हैं, तभी वह परिणाम को उत्पन्न कर सकते हैं। वह परोक्षरूप 'संस्कार', या 'अदृष्ट' के नाम से पुकारा जाता है।

८—पुनर्जन्म

अदृष्ट को स्वीकार करलेने पर पुनर्जन्म का मानना आवश्यक हो जाता है। हमने इस जन्म में बहुत से ऐसे कर्म किये हैं, जिन का फल इसी जन्म में नहीं मिला। कई लोग तो कर्म करते हुए मर जाते हैं। उन्हें कर्म फल अवश्य मिलना चाहिये। इससे मृत्यु से पीछे चेतन की सत्ता सिद्ध होती है परन्तु पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होता। ईसाइयों तथा मुसलमानों का विश्वास भी है कि मृत्यु के पीछे मनुष्य की आत्मा विद्यमान रहती है, परन्तु दूसरा जन्म नहीं लेती। वह परमात्मा के न्याय की प्रतीक्षा करती है। परन्तु जब इसके साथ जन्म से पूर्व की सत्ता को मिला दिया तब पुनर्जन्म का मानना आवश्यक हो जाता है। यह माना जा चुका है कि मनुष्य को जो सुख दुःख का अनुभव होता है, वह कर्म का ही फल है। हरेक परिणाम कारणों से उत्पन्न होता है। अचेतन की क्रिया का भी फल अवश्य होता है, परन्तु वह सुखदुःखात्मक नहीं होता। चेतन सुखदुःख की अभिलाषा से कार्य करता है, उसे कर्म

फल भी सुखदुःख रूप में होता है । प्रकार में भेद है, परन्तु हरेक फल कारण से उत्पन्न होता है--यह नियम अटल है। हम देखते हैं कि जन्म से ही मनुष्य का बच्चा सुखदुःख का अनुभव करने लगता है। बच्चे के सुखदुःख भी कर्मों के ही परिणाम हैं परन्तु उसने इस जन्म में तो कर्म किये नहीं । तब हमें उसका पूर्वजन्म मानना पड़ता है। न्याय दर्शन में आत्मा की सिद्धि के लिए जो युक्तियां दी हैं, वह वस्तुतः कर्मसिद्धान्त पर ही आश्रित हैं । न्यायदर्शन का निम्नलिखित सूत्र संक्षेप से कर्मसिद्धान्त द्वारा आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म को सिद्ध करता है—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबंधात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥
३ । १ । १६ ।

आज कल की Psychic Research (आध्यात्मिक गवेषणा) मृत्यु के पीछे आत्मा की सत्ता को मानती है। बहुत से परीक्षणों से वह सिद्ध करती है कि मरकर भी जीवात्मा विद्यमान रहता है और उनकी राय में तो बुलाया भी जा सकता है। वह सुखदुःख का भी अनुभव करता है। यदि यह ठीक है तो जन्म से पूर्व उसकी सत्ता का मानना भी आवश्यक हो जाता है। ईसाई धर्म की लंगड़ी नित्यता को समझना भी कठिन है। मृत्यु से पीछे आत्मा विद्यमान रहती है क्योंकि उसे अपने कर्मों का फल प्राप्त करना है, परन्तु जन्म से पूर्व वह विद्यमान नहीं रहती, यद्यपि हम बचपन से ही उसे सुखःदुख रूपी कर्म फल का उपभोग करता देखते हैं।

कर्म फल के सिद्धान्त को मान लेने पर आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म को मानना आवश्यक हो जाता है। ईसाई और मुहम्मदी धर्म का कर्मसिद्धान्त अपूर्ण और लंगड़ा है।

९—बौद्धों का कर्मसिद्धान्त

बौद्ध अपने कर्म सिद्धान्त को दूसरी सीमा तक ले गये हैं।

उन्होंने आत्मा को बीच में से निकाल दिया है। वह मानते हैं कि कर्म पुञ्ज ही पुनर्जन्म लेता है। नया शरीर कर्म वशसे ही उत्पन्न होता है। वह कर्म पूर्वजन्म में किये गये थे। इस प्रकार आत्मा की गद्दी पर उन्होंने कर्म कोबिठा दिया है। मनको विचारोंका पुञ्ज, और चेतन को कर्मों का पुञ्ज मान लेना प्रत्यक्षवाद की फ़िलासफ़ी का फल है। प्रत्यक्षवाद विद्यमान घटना को देखता है। उसकी सम्मति में चेतन शरीर इन्द्रियों का और अन्य अवयवों का समूह है-और कुछ नहीं। वह विद्यमान चेतन को पैदा होती हुई वासनाओं या बुद्धियों का समुदाय मात्र मानता है-वह पुनर्जन्म का आधार कर्म समुच्चय को मानता है। यह प्रत्यक्ष वाद है। थोड़ासा विचार करें तो मालूम होने लगेगा कि इन भिन्न घटनाओं का आधार एक ही है। प्रवाह में चलने वाली वासनाएं एक ही चेतन में पैदा होती हैं, तभी तो स्मृति और अनुबन्ध आदि दिखाई देते हैं।

'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्'

'इन्द्रियान्तरविकारात्'

इत्यादि न्याय सूत्रों और

'शरीरादि व्यतिरिक्त : पुमान्'

'संहतपरार्थत्वात्'

'भोक्तृभावात्'

इत्यादि सांख्य सूत्रों में चेतन की पृथक् सत्ता को भली प्रकार सिद्ध किया गया है। बौद्धों के कर्मसिद्धान्त में सूत्रके हार बनाने का यत्न किया गया है जो असम्भव है। यदि कर्म हैं, तो कर्त्ता अवश्य है। कर्त्ता और कर्म एक दूसरे से सापेक्ष हैं। यही कर्मसिद्धान्त है। भारत का सारा तत्वज्ञान इसी सिद्धान्त के चारों ओर घूमता है।

ब्रह्मचर्य्य ।

(पण्डित सत्यव्रत जी स्नातक, गुरुकुल कांगड़ी)

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥
॥ अथर्व ॥

वीर्य की महत्ता ।

मनुष्य के शरीर का तत्व-भाग वीर्य है। वीर्य का स्तम्भन कठिन कार्य है। इसकी रक्षा की चिन्ता योगियों की उन्निद्र आंखों में, ऋषियों के चेहरों की झुर्रियों में और ब्रह्मचारियों की नियन्त्रित दिन-चर्या में किसे नहीं दीख पड़ती? मूर्ख लोग भले ही जीवन-शक्ति के रहस्य को न समझते हुए उल्टे मार्ग पर चलें परन्तु समझदार लोग वीर्य-रक्षा को जीवन का लक्ष्य-विन्दु जानते हैं। इस हिमाद्रि-सम-कठिन दुरूह कार्य में तत्व-ज्ञानियों के चिन्तित रहने का मुख्य कारण यह है कि शरीर के सार अंशको अन्दर ही अन्दर खपा लेने से विद्या और बल की सतत वृद्धि होती है, वीर्य-नाश से मनुष्य का चौमुखा ह्रास होता है। वीर्य-रक्षा बड़े महत्व का कार्य है।

वीर्य-रक्षा के महत्व को समझने के लिए 'वीर्य क्या वस्तु है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है। हम यहां पर भारतीय आयुर्वेद तथा पाश्चात्य-आयुर्विज्ञान, दोनों के वीर्य विषयक मुख्य मुख्य विचारों का उल्लेख करेंगे ताकि हमारे पाठक इस विषय को भले प्रकार समझ सकें।

१—भारतीय आयुर्वेद

'अष्टांग हृदय' (शरीर स्थान, अध्याय ३, श्लोक ६) में लिखा है:—

" रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं............ " ।

भोजन किये हुए पदार्थ से पहले रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से वीर्य, वीर्य अन्तिम धातु है। मैशीन में इसके बनने का दर्जा सातवां है। इसके बनाने में शरीर को जीवन के लिए आवश्यक अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्व-भाग अधिक है। उत्तरोत्तर सार भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार वीर्य है। थोड़े से वीर्य को बनाने के लिए रक्त की पर्याप्त मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। किञ्चिन्मात्र वीर्य का नष्ट हो जाना अत्यधिक रुधिर के नष्ट हो जाने के बराबर है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को अनेक पाश्चात्य-पण्डितों ने भी मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है। डा० कोवन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सायन्स आफ़ न्यू लाइफ़' के १०६ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

" शरीर के किसी भाग में से यदि ४० औंस रुधिर निकाल लिया जाय तो वह एक औंस वीर्य के बराबर होता है—अर्थात् ४० औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनता है। "

अमेरिका के प्रसिद्ध शरीर-वृद्धि-शास्त्रज्ञ, मैकफै डन महोदय ने अपनी पुस्तक 'मैनहुड एण्ड मैरेज' में इसी विचार को प्रकट किया है। 'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ फ़िज़िकल कल्चर' के २७७२ पृष्ठ पर वे लिखते हैं:—

" कई विद्वानों के कथनानुसार चालीस औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनता है परन्तु कुछ एक विद्वानों का कथन है कि एक औंस वीर्य की शक्ति साठ औंस रुधिर के बराबर है। "

सम्भवतः इस विषय में पूरा २ हिसाब न हो सकता हो, तथापि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि थोड़े से भी वीर्य को उत्पन्न करने के लिए रक्त की बहुत अधिक मात्रा ख़र्च होती है। भारत वर्ष में यह चर्चा सर्व साधारण तक में पाई जाती है। यहां हर कोई जानता है कि वीर्य के बनने में ४०, ५० या ६० गुना रुधिर काम में आ जाता है। पाश्चात्य लोगों में यह विचार हाल ही में उत्पन्न हुआ है। मूलतः यह भारतीय-आयुर्वेद का विचार है। जब रुधिर में शरीर को जीवित या मृत बना देने की शक्ति है तब वीर्य में वह शक्ति अप्रत्याख्यात रूप से कई गुनी होनी चाहिये, इस बात में किसे सन्देह हो सकता है?

आयुर्वेद का कथन है कि रुधिर से वीर्य की अवस्था तक पहुंचने में उपर्युक्त सात मंज़िलें तै करनी पड़ती हैं। इन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है; अन्त में रक्त से वीर्य किस प्रकार बन जाता है-इस विषय पर आयुर्वेद की दृष्टि से अभी तक पूरा २ अनुसन्धान हीं हुआ। आयुर्वेद से हमें इतना अवश्य पता चलता है कि रुधिर को वीर्य बनने के लिए बड़े लम्बे चौड़े सात फेरों वाले रास्ते में से गुज़रना पड़ता है। रक्त का सार भाग बनते २ अन्त में वीर्य बनता है।

आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। हृदय में विकार उपस्थित होने पर वीर्य शरीर में स्रवित होकर अण्ड-कोषों द्वारा प्रकट रूप में उत्पन्न हो जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए 'भाव-प्रकाश' कार लिखते हैं:—

" यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ यथा रसः।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥२४०॥

कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्संप्रवर्तते ॥ २४२ ॥"

जिस प्रकार दूध को मथने से घी निकल आता है उसी प्रकार बहु-वीर्य वाले देह को भी मथने से वीर्य निकल आता है, जिस प्रकार ईख को पेरने से रस निकलता है उसी प्रकार अल्प-वीर्य वाले पुरुष के शरीर में से भी अत्यन्त मथन करने से वीर्य प्राप्त होता है। सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला वीर्य मानसिक प्रसन्नता तथा सम्भोग के समय प्रवृत्त होता है।

२—पाश्चात्य—आयुर्विज्ञान।

पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के पण्डित वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके कथनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है—उसे सात मंज़िलों में से गुज़रने की आवश्यकता नहीं होती। वे लोग वीर्य को सम्पूर्ण-शरीरस्थ नहीं मानते। उनका कथन है कि मनोविकार उपस्थित होने पर अण्डकोष अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं। यही द्रव 'उत्पादक-वीर्य' है। जिस प्रकार उत्तेजक पदार्थ के सम्मुख आने पर आंखों से आंसु तथा मुख से लार टपकती है उसी प्रकार अण्ड-कोषों की ग्रन्थियों (ग्लैंड) से वीर्य निकलता है।

अण्ड-कोषों में से दो प्रकार का रस उत्पन्न होता है। एक भीतरी, दूसरा बाहरी। भीतरी को 'इन्टरनल सिक्रीशन' अन्तःस्राव तथा बाहरी को 'एक्सटरनल सिक्रीशन' बहिःस्राव कहते हैं। अन्तःस्राव हर समय अण्ड-कोषों से होता रहता है और शरीर में अन्दर ही अन्दर खपता रहता है। यह रस सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर आंखों को तेज, मुखको कान्ति तथा अंग प्रत्यङ्ग को सुडौलपन देता है। चौदह, पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक के शरीर में जो

अचानक परिवर्तन देख पड़ते हैं उनका कारण अन्तःस्राव का भीतर ही भीतर खप जाना है। जिन प्राणियों के अण्ड-कोष निकाल दिये जाते हैं वे क्रिया-शून्य तथा स्फूर्ति-हीन हो जाते हैं। घोड़े, बैल तथा बकरों को देखकर यह बात आसानी से समझ में आ जाती है। मनुष्यों में भी जिनके अण्ड-कोष निकाल दिये जायं वे निस्तेज तथा निर्वीर्य हो जाते हैं। हीजड़ों का सा हाल हो जाता है। वे किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक काम के नहीं रहते।

बहिःस्राव के विषय में पाश्चात्यों का यह कथन है कि इस में शुक्र-कीटों के साथ २ जनन-प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों से उत्पन्न हुए द्रव भी मिल जाते हैं। शुक्र-कीट (स्पर्मैटाजोआ) तथा उन द्रवों के समुदाय का नाम ही वीर्य है। शुक्र कीटों की उत्पत्ति अण्डकोषों से होती है और वे ही संतानोत्पत्ति के कारण हैं। जिस पुरुष के वीर्य में शुक्र कीट नहीं होते वह नपुंसक कहलाता है। शराब, तम्बाकू, चाय, काफ़ी, अफ़ीम आदि पदार्थों के सेवन से शुक्र-कीट क्रिया-हीन हो जाते हैं अतः उत्पादन-शक्ति को स्थिर रखने के लिये इनका त्याग ही सर्वोत्तम उपाय है। शुक्र-कीट शरीर में खप जाते हैं या नहीं, इस विषय में विद्वानों में सम्मति भेद है, परन्तु डा॰ कोवन तथा अन्य अनेक पण्डितों का मत है कि यदि शुक्र-कीटों को कुविचारों तथा कुकर्मों द्वारा शरीर से बाहर न फेंक दिया जाय तो वही कीट जो नये जीवन को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हैं शरीर में खप कर व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक बल को अद्भुत रूप से बढ़ा सकते हैं।

डा॰ गार्डनर महोदय का कथन है कि:—

"वीर्य-कीट, रुधिर का सार-तम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवन-दातृ-शक्ति ही नहीं दी परन्तु इसमें वैयक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इसमें तनिक भी सन्देह

नहीं कि शुक्र-कीट के शरीर में खप जाने से सम्पूर्ण देह में सञ्जीवनी-शक्ति का सञ्चार हो जाता है।"

मनुष्य के शरीर की रचना को जानने वाले सभी विद्वान् एकमत होकर मानते हैं कि भीतरी अथवा बाहरी किसी भी वीर्य-शक्ति का ह्रास मनुष्य की वृद्धि के लिए अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए आत्म-संयम द्वारा वीर्य-स्तम्भन अत्यन्त आवश्यक है।

तुलना

वीर्य के सम्बन्ध में पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियों का उल्लेख करते हुए उनकी तुलना पर विचार करना बड़ा रोचक विषय है। सामान्य-दृष्टि से विचार करने पर दोनों में निम्नलिखित मोटे २ भेद प्रतीत होते हैं :—

भेद

१–आयुर्वेद में वीर्य सात धातुओं के क्रम से तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अनुसार सीधा रक्त से बनता है।

२–आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानता है, पाश्चात्य लोग इसे अण्ड-कोषों द्वारा उत्पन्न हुआ २ मानते हैं।

३–पाश्चात्य आयुर्विज्ञान में वीर्य के दो रूप, अन्तःस्राव (इन्टरनल सिक्रीशन) तथा वहिःस्राव (एक्सटरनल सिक्रीशन) स्पष्ट रूप से माने गये हैं, आयुर्वेद में यह भेद नहीं दीख पड़ता।

४–पाश्चात्य-विज्ञान में शुक्र-कीट (स्पर्मैटाज़ोआ) की परिभाषा पाई जाती है। शुक्र-कीट, 'उत्पादक-वीर्य' का नाम है। आयुर्वेद में उत्पादक वीर्य को कोई 'कीट-विशेष' नहीं माना गया। शुक्र ही से जीवन की उत्पत्ति होती है।

साधारण बुद्धि द्वारा पूर्वीय तथा पाश्चात्य विचारों में, वीर्य के सम्बन्ध में यही चार मोटे २ भेद दीख पड़ते हैं। हमारी सम्मति में सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर इन भेदों का बहुत सा अंश लुप्त होकर दोनों विचारों में अनेक समानताएं दृष्टि-गोचर होने लगती हैं।

समानताएं

१-निस्सन्देह आयुर्वेद वीर्य को सात धातुओं में से गुजर कर बना हुआ मानता है परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि आयुर्वेद के कई ग्रन्थों में वीर्य के सात धातुओं में से गुजर कर बनने के सिद्धान्त को नहीं माना गया। वे यही मानते हैं कि ' केदार-कुल्या-न्याय ' से रुधिर ही शरीर के भिन्न २ अंगों को भिन्न २ रस देता जाता है। जैसे बग़ीचे में पानी सब जगह बहता है और उसमें से भिन्न २ वृक्ष भिन्न २ रस खींच लेते हैं उसी प्रकार रुधिर भी अंग प्रत्यङ्ग को सींचता हुआ सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है। जब रुधिर अण्ड-कोषों में पहुंचता है तब वे रुधिर में से वीर्य खींच लेते हैं। यह विचार अक्षरशः पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के विचार के साथ मिलता है परन्तु निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यही विचार यथार्थ सत्य है।

२-आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीरस्थ मानता है, पाश्चात्य विज्ञान इसे अण्डकोषों द्वारा जनित मानता है। कइयों के कथनानुसार, वीर्योत्पत्ति में यह स्थान-सम्बन्धी भेद है। परन्तु यह भेद वास्तविक भेद नहीं। पाश्चात्य पण्डित यह नहीं मानते कि वीर्य अण्डकोषों में रहता है, वे यही मानते हैं कि वीर्य के उत्पत्ति-स्थान अण्डकोष हैं। मनोमन्थन के बाद वीर्य अण्डकोषों में प्रकट होता है, यह बात दोनों को सम्मत है। वीर्य का स्रवण दोनों के मतों में सम्पूर्ण शरीर में से होता है। आयुर्वेद के मुख्य-सिद्धान्त

के अनुसार सप्त धातुओं से बना हुआ वीर्य सरता है, पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अनुसार रुधिर में से वीर्य सरता है-सरता दोनों मतों में सम्पूर्ण शरीर में से है।

३-यद्यपि भारतीय आयुर्वेद में अन्तःस्राव में तथा वहिःस्राव का भाव स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता तथापि जहां तक हमने विचार किया है उसके आधार पर हमारी सम्मति है कि आयुर्वेद में तेज तथा ओज शब्दों का प्रयोग अन्तः-स्राव (इन्टरनल सिक्रीशन) और रेतस् तथा बीज शब्दों का प्रयोग वहिः-स्राव (एक्सटरनल सिक्रो-शन) के लिए किया गया है। शुक्र तथा वीर्य शब्द भीतरी तथा बाहरी, दोनों स्रावों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

वाग्भट ने 'ओज' का निम्न वर्णन किया है:-

"ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिफलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साहप्रतिभाधैर्यलावण्यसुकुमारताः॥"

अर्थात् ओज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, देह की स्थिति का कारण है। ओज के बढ़ने से तुष्टि, पुष्टि तथा बल का उदय होता है, ओज के नष्ट हो जाने से यह सब कुछ नष्ट हो जाता है। ओज ही से उत्साह, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता आदि नानाविध भाव प्रकट होते हैं।

यह वर्णन अन्तःस्राव के विषय में लिखे गये पाश्चात्य आयुर्विज्ञों के सब वर्णनों से टक्कर खाता है।

मैकफ़ैडन महोदय 'इन्टरनल सिक्रीशन' अन्तःस्राव के विषय में लिखते हैं—

" इन ग्रन्थियों से निकली हुई एक २ बूँद उत्पन्न होते ही शरीर में खप जाती है। इसका परिणाम अनवरत उत्साह वृद्धि तथा स्वास्थ्य है जो बचपन में विशेष रूप से दीख पड़ता है। "

जैसा ऊपर दर्शाया गया है अन्तःस्राव के विषय में वाग्भट तथा मैकफ़ैडन के वर्णनों में कोई भेद नहीं। बहिःस्राव पर पूर्वीय तथा पाश्चात्यआयुर्विज्ञान की सम्मतियों में कुछ भेद अवश्य है परन्त बहिःस्राव की सत्ता को आयुर्वेद में स्वीकार अवश्य किया गया है भाव प्रकाश में लिखा है :—

" शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भबीजं वपुःसारो जीवस्याश्रय उत्तमः । २३७ ॥"

अर्थात् वीर्य सोमात्मक, श्वेत, स्निग्ध, बल और पुष्टि कारक, गर्भ का बीज, देह का सार रूप और जीव का उत्तम आश्रयरूप है। वीर्य का यह वर्णन किसी भी पाश्चात्य लेखक के बहिःस्राव 'एक्सटरनल सिक्रीशन' के वर्णन से अक्षरशः मिलता है।

४-हां-' बहिः-स्राव ' के स्वरूप के विषय में दोनों विज्ञानों में अत्यन्त सम्मति-भेद है। आयुर्वेद में बहिः-स्राव के लिए शुक्र-कीट (स्पर्मैटोज़ोआ) का शब्द नहीं पाया जाता, पाश्चात्य-विज्ञान में पाया जाता है, आयुर्वेद में शुक्र, एतावन्मात्र शब्द का प्रयोग होता है।

अण्डकोषों के बहिःस्राव के विषय में दो कल्पनाएं हैं। आयुर्वेद के कथनानुसार शुक्र ही बहिः-स्राव है, पाश्चात्य आयुर्विज्ञों के अनुसार शुक्र-कीट बहिःस्राव है। स्मरण रखना चाहिए कि आयुर्वेद ने शुक्र को बहिःस्राव कहते हुए शुक्र-कीट से इनकार नहीं किया। उस शुक्र का नाम यदि शुक्र-कीट रखा जा सके तो आयुर्वेद को कोई आपत्ति नहीं।

परन्तु क्या बहिः-स्राव (शुक्र) का नाम शुक्र-कीट रखा जा सकता है?

हमारी सम्मति में उत्पादक-वीर्य का नाम शुक्र कीट रखना अनुचित है। क्योंकि उत्पादक-वीर्य में गति होती है; वह चलता फिरता है, अतः उसे पाश्चात्य आयुर्विज्ञों ने कीट का नाम दे दिया है—वास्तव में वह शुक्र ही है। भारतीय आयुर्वेद के साथ अध्यात्मशास्त्र भी मिला हुआ है। यदि शुक्र को शुक्र-कीट का नाम दे दिया जाय तो उनमें मनुष्य से पृथक् चेतनता मानने का भाव झलकने लगेगा। यह बात भारतीय अध्यात्मशास्त्र स्वीकार नहीं करता। अतः आयुर्वेद में शुक्र को शुक्र-कीट का नाम नहीं दिया गया और ना ही यह नाम देना किसी प्रकार उचित प्रतीत होता है। उन्हें 'कीट' का नाम क्यों दिया जाय? उनकी गति का कारण उनकी पृथक् चेतनता नहीं है। शुक्र-कीटों की गति अथवा चेतनता मनुष्य के मस्तिष्क की गति अथवा चेतनता से उत्पन्न होती है अतः उन्हें यथार्थ में 'शुक्र' नाम ही देना चाहिये, 'शुक्र-कीट' नहीं। हां व्यवहार के लिए यदि उन्हें 'शुक्र-कीट' कह दिया जाय तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं दीखती।

३—तीसरा विचार।

हमने अभी कहा है कि 'उत्पादक-वीर्य' की गति का कारण मस्तिष्क है, 'उत्पादक-वीर्य' की 'पृथक् चेतनता' नहीं। यह कथन हमें वीर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तीसरे विचार की तरफ़ ले आता है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त वीर्य के स्वरूप के विषय में एक तीसरा विचार है जिसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है।

कई विचारकों का कथन है कि 'उत्पादक-वीर्य' (स्पर्मैटोज़ोआ) की उत्पत्ति रुधिर अथवा अण्ड-कोषों से नहीं बल्कि सीधे मस्तिष्क से होती है। उनका कथन है कि "वीर्य का नाश

मस्तिष्क का नाश है क्योंकि वीर्य तथा मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ है।" इसमें सन्देह नहीं कि वीर्य तथा मस्तिष्क को बनाने वाले रासायनिक पदार्थ एक ही है। दोनों की तुलना करने पर उनमें बहुत ही थोड़ा अन्तर प्रतीत हुआ है। इस विषय पर गहरे अन्वेषण की आवश्यकता है। यदि रसायन-शास्त्र से सिद्ध हो जाय कि 'उत्पादक-वीर्य' तथा 'मस्तिष्क' की रचना में कोई भेद नहीं तो ब्रह्मचर्य के लिए एक अकाट्य युक्ति तैयार हो जाय। हम यहां पर डाक्टरों तथा रसायन-शास्त्र के विद्यार्थियों को संकेत करना चाहते हैं कि यदि वे इस विषय पर अधिक मनन कर कुछ क्रियात्मक विचारों तक पहुंच सकें तो बहुत लाभ हो।

इस सिद्धांत के सबसे प्रबल पोषक अमेरिका के प्रसिद्ध डा० एन्ड्रू जैक्सन डेविस है। अपनी पुस्तक 'ऐन्सर्स टु एवर-रिकरिंग क्वेश्चन्स फ्राम दि पीपल' के २६३ पृष्ठ पर वे लिखते हैं :—

"कई शरीर-शास्त्रियों ने यह भ्रम मूलक विचार फैला दिया है कि वीर्य की उत्पत्ति रुधिर से होती है। इस सिद्धांत से बुद्धिमान् व्यभिचारी लोग खूब फ़ायदा उठाते हैं। वे कहते हैं कि यतः रुधिर से ही वीर्य ने बनकर अण्ड-कोषों द्वारा प्रकट होना है अतः वे वीर्य का दुरुपयोग करते हुए भी खा पी कर उसकी कमी को पूरा कर सकते हैं। वे लोग कुछ नहीं जानते। वास्तव में सचाई यह है कि 'उत्पादक-वीर्य', 'वीर्य-कीट' अथवा 'स्पर्मैटोज़ोआ की उत्पत्ति मस्तिष्क से होती है और अन्य द्रवों के साथ मिल कर वह अण्ड-कोषों में बहिः-स्राव के रूप में प्रकट होता है।

"उत्पत्ति का कार्य जीवन के सब कार्यों की अपेक्षा अधिक बड़ा और थकाने वाला कार्य है। इस में मनुष्य की प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक भाव तथा शरीर और मन का हरेक भाग हिस्सा लेता है। मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ २ प्रत्येक 'शुक्र-कीट' यदि बाहर निकलता है तो मस्तिष्क के उस अंश का पूरा नाश समझना चाहिये।

"शारीरिक परिश्रम, मानसिक कार्य तथा किसी एक काम की तरफ़ लगातार लगे रहने से 'वीर्य-कीट' अथवा 'स्पर्मैटोज़ोआ' मस्तिष्क में ही खप जाता है। यदि 'वीर्य-कीट' को केवल उत्पत्ति के लिए काम में लाया जाय तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियां नष्ट होने से बच जाती हैं।

"इसलिए स्मरण रखना चाहिये कि उत्पादक पदार्थों का उचित मात्रा से अधिक ख़र्च करना अथवा प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना मस्तिष्क पर अत्याचार करना है। ऐसा करने से दिमाग़ की सब तरह की बीमारियों के होने का पूरा निश्चय है। जिन लोगों पर बच्चों की रक्षा की ज़िम्मेवारी है उन्हें इन बातों को कभी न भूलना चाहिये।"

मस्तिष्क तथा वीर्य में कोई ख़ास सम्बन्ध अवश्य है। वीर्य-नाश का दिमाग़ पर सीधा असर होता है, यह किसी से छिपा नहीं। डा० कोवन यह मानते हैं कि दिमाग़ से एक द्रव उत्पन्न हो कर उस तरफ़ को जिस तरफ़ मनुष्य के मनोभाव केन्द्रित होते हैं बहने लगता है। डा० हाल का कथन है कि अण्ड-कोषों से एक पदार्थ उत्पन्न हो कर मस्तिष्क में पहुंचता है जहां से वह यौवनावस्था में प्रकट होने वाले सब शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों को प्रादुर्भूत करता है। डा० ब्लौश कहते हैं कि मस्तिष्क तथा वीर्य का पारस्परिक सम्बन्ध देर से माना जा रहा है। यहां तक कि शैलिंग की 'नैचुरल फ़िलासफ़ी' में मस्तिष्क के लिए 'अण्ड-कोषों के रस से बना हुआ दिमाग़' - यह नाम पाया जाता है।

'वीर्य के स्वरूप' के सम्बन्ध में हमने तीनों मुख्य विचारों का उल्लेख इसलिए कर दिया है ताकि प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भले प्रकार समझले कि वीर्य-रक्षा किये बिना उसका कोई निस्तार नहीं। तीनों विचार तत्वतः एक ही हैं। किसी भी दृष्टि से क्यों न

देखा जाय, वीर्य-रक्षा करना जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक, अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। हमारे नव-युवक पाश्चात्य विचारों के पर्दे के पीछे अपनी कमज़ोरियों को छिपाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, जानबूझ कर अपने को धोखे में डालते हैं परन्तु उन्हें अपनी आत्मा की आवाज़ सुन कर अवश्यम्भावी नाश से बचने की फ़िक्र करनी चाहिये। पश्चिमीय विज्ञान ने अभी तक जो कुछ पता लगाया है वह ब्रह्मचर्य के हक़ में ही जाता है। उसका दुरुपयोग करने की कोशिश न कर उससे शिक्षा लेनी चाहिये। डा० स्टाल ने अपनी पुस्तक "व्हाट ए यङ्ग हसबैण्ड औट टु नो' में जीवन-शास्त्र की दृष्टि से बहुत ही उत्तम लिखा है:—

"जो लोग वृक्षों की रक्षा करना जानते हैं उन्हें यह भी मालूम है कि वृक्षों के सौन्दर्य को क़ायम रखने के लिए आवश्यक है कि उनके फलोत्पादन के समय को जितना हो सके उतना दूर करने का प्रयत्न किया जाय। जब तक हम उनके बीज न बनने देंगे तब तक वे हरे भरे, लहलहाते और फूलों से लदे रहेंगे। पुष्प के बीज बनने की सम्भावना को दूर करदो, तुम देखोगे कि वह फूल पहले की अपेक्षा कई घण्टे अधिक देर तक खिला रहता है। कीड़ों का भी यही हाल है। देखा गया है कि जब उनके वीर्य नष्ट होने की सम्भावना को रोक दिया जाय तब वे अपनी जाति के दूसरे कीड़ों की अपेक्षा बहुत अधिक जीते हैं। एक तितली पर परीक्षण करके देखा गया है कि जहां जननशक्ति का उपयोग करने वाली तितलियां कुछ ही दिन की मेहमान होती हैं वहाँ वह तितली दो साल से भी ऊपर जीती रही।"

ऐसे परीक्षणों से वीर्य-रक्षा का जीवन के लिए महत्व अखण्डित रूप से सिद्ध है-इस में क्षण भर के लिए भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

वीर्य-नाश और मृत्यु

शरीर की प्रारम्भिक अवस्था में संचय शक्ति प्रधान रहती है। हम खाते, पीते और मौज उड़ाते हैं। किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करते। शरीर बढ़ता चला जाता है। कहां बचपन का एक हाथ का नन्हा सा पुतला और कहां छः फ़ीट लम्बा, डेढ़मन का बोझ! परन्तु इस वृद्धि में वही आंख, नाक, कान, अंग, प्रत्यङ्ग तथा आत्मा विद्यमान हैं। वही छोटी चीज़ बड़ी हो गई है, वही हलकी वस्तु भारी हो गई है। इस आश्चर्य जनक परिवर्तन का कारण शरीर की संचय-शक्ति है। हमने बड़े परिश्रम से उपादेय पदार्थों का शरीर में संग्रह किया है, इसी से आज देह उन्नत तथा प्रवृद्ध दिखाई देता है।

परन्तु यह उन्नति चिर-स्थायी नहीं। दिन चढ़ कर ढलता है, लहर उठकर गिरती है। शरीर भी हट्टा, कट्टा होकर क्षीण होने लगता है। संचय के अनन्तर विचय प्रारम्भ होता है। जीवन के बाद मृत्यु पदार्पण करने लगती है। हम दैनिक व्यवहार में देखते हैं कि मनुष्य की समृद्ध होती हुई शक्तियें किसी समय आकर ठहर जाती हैं, रुक जाती हैं, कई बार पतनोन्मुख होने लगती हैं। यह क्यों?

जिन्होंने संचय के पश्चात् विचय, अथवा उन्नति के बाद नाश के अवश्यम्भावी चक्र पर विचार किया है उनका कथन है कि इसका कारण, जीवन की प्रौढ़ावस्था के अनन्तर, दो परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियों का टक्कर खाना है। शरीर-वृद्धि की स्वार्थमय प्रवृत्ति प्रजा-जनन की परमार्थ-प्रवृत्ति से दब जाती है। मनुष्य घर बना कर बैठ जाता है। अपने शरीर में संचय करना छोड़कर सन्तानोत्पत्ति करना प्रारम्भ करता है। प्रकृति खेल करती हुई उसे अपनी

उंगलियों पर नचाती है। जो व्यक्ति खाने, पीने और अपने शरीर के विषय में सोचने से आराम नहीं लेता था वही परमार्थ के चक्कर में घूमने लगता है। अपनी सन्तान के लिए कठिन से कठिन कष्ट भोगने के लिए तय्यार हो जाता है। स्वभावसिद्ध क्रम से स्वार्थ की अवस्था के पीछे स्वार्थ-त्याग की अवस्था आ जाती है।

मनुष्य की 'शक्तियों का ह्रास' तथा 'प्रजा-जनन' दोनों एक ही समय में प्रारम्भ होते हैं। प्रजोत्पत्ति के पश्चात् अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जिस तत्व से शारीरिक उन्नति हो सकती थी वह प्रजोत्पत्ति में काम आ जाता है, फिर शारीरिक उन्नति क्यों न रुक जाय? प्रजा उत्पन्न करना बुरा कार्य नहीं। ऊंचे अर्थों में सन्तान उत्पन्न करना ब्रह्म का अनुकरण करना है। परन्तु इतने से क्या प्रजोत्पत्ति के अवश्यम्भावी परिणाम रुक सकते हैं? नहीं, कभी नहीं।

प्रजोत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही शारीरिक शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। सञ्चय की शक्तियों को विचय की शक्तियें आ घेरती हैं। मनुष्य का क़दम मृत्यु की तरफ़ बढ़ने लगता है क्योंकि सञ्जीवनी- शक्ति के बीज का शरीर से बाहर जाना जीवन का प्रतिद्वन्द्वी है। जब शरीर में वृद्धि अधिक नहीं समा सकती तब उत्पत्ति प्रारम्भ करने से किसी हानि की सम्भावना नहीं परन्तु इससे पूर्व उत्पत्ति का कार्य प्रारम्भ करने पर मनुष्य किसी प्रकार भी नाश से नहीं बच सकता। प्रजा-जनन, शरीर-वृद्धि के चरम-सीमा तक पहुंच जाने का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिये—इसी का नाम ब्रह्मचर्य है। जब भी शरीर-वृद्धि के होते हुए प्रजोत्पत्ति की जाती है तभी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन होता है। 'शरीर-वृद्धि' अथवा 'संचय' की अवस्था में वीर्य का हस्त-मैथुन, व्यभिचार अथवा बाल-विवाह आदि किसी रूप में भी नाश करना

'मृत्यु' का आवाहन करना है क्योंकि ब्रह्मचर्य ही जीवन और अब्रह्मचर्य ही मरण है।

उत्पत्ति के साथ नाश का अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रजोत्पत्ति में वीर्य का क्षय होता है। वीर्य के क्षय का बदला चुकाने के लिए प्रत्येक प्राणधारी को मृत्यु की गठड़ी सिर पर उठानी पड़ती है। जीवन शास्त्र पर जिन्होंने लिखा है उनकी पुस्तकों से कई ऐसे दृष्टान्त संग्रहीत किये जा सकते हैं जिनसे उत्पत्ति तथा नाश का सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होने लगे। पाठकों को वीर्य-रक्षा के महत्व को दर्शाने के लिए हम यहां ऐसे ही कुछ दृष्टान्तों का संग्रह करेंगे।

हैवलाक एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'एरोटिक सिम्बोलिज्म' के १६८ पृ० पर लिखते हैं:—

"वीर्य-नाश में वेदना-तन्तुओं का जो तनाव होता और शरीर को धक्का पहुंचता है वह इतना भङ्कर होता है कि उससे सम्भोग के बाद प्रतीत होने वाले दुष्परिणामों का प्रकट होना सर्वथा स्वाभाविक है। पशुओं में यही देखने में आया है। प्रथम सम्भोग के बाद बड़े २ तय्यार बैल और घोड़े बेहोश होकर गिर पड़ते हैं, सूअर संज्ञा-हीन हो जाते हैं, घोड़ियें गिर कर मर जाती हैं। मनुष्यों में मौत तो देखी ही गई है परन्तु उसके साथ ही सम्भोग के बाद की थकान से अनेक उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी २ कई दुर्घटनाएं होती देखी गई हैं। नवयुवकों में प्रथम सम्भोग से बेहोशी तथा कम्प आदि होती हैं, कई बार मिरगी हो जाती है, अंग ढीले पड़ जाते हैं, तिल्ली कट जाती है। रुधिर के दबाव को न न सह सकने के कारण कइयों के दिमाग की नाड़ियें खुल जाती हैं, अर्धांग हो जाता है। वृद्ध पुरुषों के वेश्याओं के साथ अनुचित संबन्ध का परिणाम अनेक बार मृत्यु देखा गया है। बहुत पुरुष नव-विवाहिता वधुओं के आलिंगन के आवेग को नहीं सह सके और उसी अवस्था में प्राण-विहीन हो गये।"

शहद की मक्खियें प्रथमालिंगन के समकाल ही जीवन से हाथ धो बैठती हैं। तितलियों का श्वास सम्भोग के साथ ही समाप्त हो जाता है। कीड़ियों की यही कहानी है। मछलियें सन्तानोत्पत्ति करने के अनंतर अत्यन्त क्षीण हो जाती हैं। मृत्यु उनसे दूर नहीं रहती। कीड़ों, पतंगों में प्रजोत्पत्ति तथा मृत्यु दोनों ऐसे मिले जुले हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। चूहे, गिलहरी, ख़रगोश प्रजोत्पत्ति के बाद कई बार मर जाते हैं, कई बार बेहोश होकर एक ओर को गिर जाते हैं। पक्षियों में सम्भोग का परिणाम सर्वत्र तात्कालिक मृत्यु नहीं पाया जाता परन्तु इसके दुष्परिणाम उनमें भी किसी न किसी रूप में बने ही रहते हैं। जीवन की लहर के आवेग में उनके जो मधुर गीत निकलते थे वे अब सूख जाते हैं, चित्रकार को चकित कर देने वाले पंखों के रंग उड़ जाते हैं, नाचना भूल जाता है, क़दम ढीला हो जाता है। ज्यों २ जीवन उन्नति की तरफ़ चलता जाता है त्यों २ उत्पत्ति के साथ जुड़ी हुई मृत्यु भी भयङ्कर स्वरूप को सौम्य बनाने का प्रयत्न करती है परन्तु कितना भी क्यों न हो, उसकी भयङ्करता का रुद्र-रूप शिथिल होता हुआ भी दुष्परिणामों में वैसे का वैसा ही बना रहता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पत्ति की थकान का प्रथम शिकार, नाटक का सूत्रधार 'नर' ही होता है। मरना हो तो वही पहले मरता है, बेहोश होना हो तो वही पहले होता है। वही इस उपाख्यान का प्रधान-पात्र है, उसी ने रंगीलेपन में फाग उड़ाया है, उसी से क़िस्सा भी ख़तम होता है। 'मादों' का जीवन भी संकट में पड़ता है परन्तु 'नर' की अपेक्षा बहुत कम। क्षुद्र-प्राणियों में प्रजोत्पत्ति की ज्वाला भयङ्कर रूप धारण कर 'नर' को तत्काल भस्म कर देती तथा 'मादा' को स्वल्पकाल में ही

भस्मावशेष कर देती है। मनुष्य में इस ज्वाला की शिखा धीमे २ जलती है। कभी ज्वाला चमक उठती और कभी दब जाती है। इस ज्वाला की गर्मी से मनुष्य की अनेक प्रसुप्त शक्तियों का क्रमिक विकास होता है परन्तु इसकी शिखाओं को भयंकर स्वरूप देने वाले को स्मरण रखना चाहिये कि यदि इस आग ने प्रचण्ड रूप धारण किया तो उसी को स्वयं बलि बन कर अग्नि-देव की रुधिर-पिपासा को शान्त करना होगा।

इस प्रकरण में जेड्डीज़ और थौमसन ने 'दि एवोल्यूशन आफ़ सेक्स' में जो विचार प्रकट किये हैं उनका उल्लेख करना अत्यन्त शिक्षा-प्रद सिद्ध होगा। अपनी पुस्तक के २५५ पृ० पर वे लिखते हैं:—

"मृत्यु तथा उत्पत्ति का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है परन्तु साधारण बोलचाल में इस सम्बन्ध को शुद्ध रूप में नहीं कहा जाता। लोग कहते हैं कि सब प्राणियों को मरना अवश्य है अतः उन्हें सन्तानोत्पत्ति ज़रूर करनी चाहिये। ऐसा न करने से प्राणियों का सर्वथा लोप हो जायगा। परन्तु यह बात अशुद्ध है। पीछे क्या होगा या क्या न होगा, यह सोचने वाले संसार में थोड़े हैं। यथार्थ बात जो प्राणियों के जीवन के इतिहास से समझ पड़ती है यह नहीं है कि "वे प्रजोत्पत्ति इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें मरना है" परन्तु यह है कि 'वे इसलिए मरते हैं क्योंकि वे प्रजोत्पत्ति करते हैं'। गेटे का कथन सत्य है कि 'मृत्यु से बचने के लिए हम प्रजोत्पत्ति नहीं करते परन्तु क्योंकि हम प्रजोत्पत्ति करते हैं इसलिए उसके अवश्यम्भावी परिणाम मृत्यु से नहीं बचते"।

"विज़मैन तथा गेटे, दोनों ने भिन्न २ उद्देश्यों से ऐसे कीटों तथा पतंगों के जीवनों को दर्शाया है जो 'वीर्य-कीट' के उत्पन्न करने के कुछ घण्टों के बाद मर जाते हैं। 'नर' में विषय शक्ति

अधिक है अतः उसके जल्दी ख़तम होने की सम्भावना है। मकड़ी सम्भोग के बाद मर जाती है। मकड़ो का मरना अन्य प्राणियों के मरने पर प्रकाश डालता है।......उच्च प्राणियों में उत्पत्ति के लिए किये जाने वाले त्याग के साथ मिला हुआ नाश का अंश कम अवश्य हो जाता है परन्तु फिर भी प्रेम का बदला चुकाने के लिए मृत्यु का भूत बिल्कुल पीछा कभी नहीं छोड़ता। प्रेम के प्रभात का अन्त प्रायः मृत्यु की घोर-निशा में होता है।"

उपर्युक्त उद्धरण में एक कथन बड़े महत्व का किया गया है। जिड्डिज़ तथा थौमसन की सम्मति है कि प्राणि-जगत् में उत्पत्ति इसलिए प्रारम्भ नहीं होती क्योंकि उनकी मृत्यु अवश्य होती है परन्तु उनको मृत्यु इसलिए होती है क्योंकि वे उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। मृत्यु सन्तनोत्पत्ति का अवश्यम्भावी परिणाम है। निस्सन्देह यह स्थापना है परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इस स्थापना के करने वाले साधारण व्यक्ति नहीं हैं। यह स्थापना ऐसे व्यक्तियों ने की है जिनका विज्ञान पर ऋण है, जिन्होंने जीवन-शास्त्र के प्रश्न पर अपना बहुत समय बिताया है। अनुभव इस स्थापना की पुष्टि करता है। उत्पत्ति के साथ नाश के इस नित्य सम्बन्ध को ही तो देखकर ऋषि, मुनियों ने ब्रह्मचर्य्य पर इतना बल दिया था। ब्रह्मचर्य्य के आदर्श को उत्तरोत्तर बढ़ाया था। वसु, रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचारियों में वसु को निकृष्ट ब्रह्मचारी ठहराया था। कितना ऊंचा लक्ष्य है! चौबीस साल तक ब्रह्मचर्य रखना पर्याप्त नहीं समझा गया। प्राचीन ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न को विवाद अथवा व्याख्यान देने तक सीमित नहीं रक्खा था। ब्रह्मचर्य का प्रश्न उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न था। इस पर उन्होंने ऐसे ही विचार किया था जैसे आजकल के विद्वान् किसी 'सायन्स' के विषय पर करते हैं। संयम तथा ब्रह्मचर्य्य को लक्ष्य में रख कर उन्होंने नियमित पाठशालाएं

चलाई थीं जिनका नाम गुरुकुल था। गुरुकुलों में आजकल के स्कूलों और कालिजों की तरह किताबें रटवा कर विद्यार्थियों का पैसा पैदा कर सकने की मैशीन बना देना उद्देश्य न होता था। आचार की मर्यादा तक पहुंचना वहां का ध्येय रक्खा गया था। जिस प्रकार आजकल किताबें पढ़ाना स्कूलों का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता है ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन कराना, संयम पूर्वक जीवन बिता सकने की शिक्षा देना गुरुकुलों का चरम लक्ष्य था। प्राचीन काल में यह कार्य आजकल के शब्दों में एक 'सायन्स' का महत्व रखता था, इसके लिए बड़े २ मस्तिष्क दिन, रात लगे रहते थे। ऋषियों ने जीवन के महत्व-पूर्ण प्रश्न का एक हल निकाला था-वह था 'ब्रह्मचर्य'। उनके गुर बड़े सरल थे परन्तु ब्रह्मचर्य के भावों से पुर थे। वे कहते थे-'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'-ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया', 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः' 'ब्रह्मचर्य के स्थिर रखने से शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक बल प्राप्त होता है' 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्'- 'विन्दु पात में जीवन का नाश तथा बिन्दुरक्षण में जीवन की रक्षा है'। कैसे छोटे २ संस्कृत के सुन्दर टुकड़े हैं परन्तु इन्हीं में जीवन की विकट समस्याओं के कैसे जीवन-शास्त्र तथा शरीरशास्त्र के महत्व-पूर्ण हल भरे हुए हैं।

ऋषियों की बुद्धीमत्ता

ऋषियों ने ब्रह्मचर्य के प्रश्न पर पूरा २ विचार कर लिया था। सदाचार का जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जा सकता है इसकी उन्होंने पूरी खोज की थी और उसी के आधार पर ब्रह्मचर्य के नियमों को घड़ा था। ब्रह्मचर्य-रक्षा के नियम अत्यन्त सरल

तथा सर्वविदित हैं। उन सबका यहां स्थानाभाव से विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता। इस प्रकरण में हम यही दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषियों मुनियों ने ब्रह्मचर्य के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, यद्यपि वे साधारण-दृष्टि से मामूली से जान पड़ते हैं तथापि उनमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। उनकी आज्ञाएं वर्तमान परीक्षणों, वैज्ञानिक गवेषणाओं तथा सार्वभौम अनुभवों से भी पूर्णतया सिद्ध होती हैं।

निम्नलिखित श्लोकों में ब्रह्मचर्य के सिद्धांत संक्षिप्तरूप से समाविष्ट हैं :—

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥"

इन्हीं अष्टांग मैथुनों का निषेध, उपनयन-संस्कार के समय 'मैथुनं वर्जय' उपदेश द्वारा किया जाता है। आचार्य शिष्य को सम्बोधन करके कहता है 'हे बालक! यौवन काल में से गुज़रते हुए आठ प्रकार के मैथुनों से बचना। ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम में से किसी एक का भी शिकार मत बनना, वीर्य-रक्षा करना।'

आत्म-संयम तथा वीर्य-रक्षा के लिए ये शिक्षाएं ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही दी जाती हैं। इन शिक्षाओं का, संक्षेप में यही अभिप्राय है कि ज्ञान की साधन पांचों इन्द्रियों को मार्ग से विच्युत न होने देना चाहिए। उनका सदा सदुपयोग करना चाहिए। उन्हें भटकने न देना चाहिए। ब्रह्मचर्य के उपदेश में एक २ इन्द्रिय के वश करने पर विशेष बल दिया गया है। सन्ध्या में प्रत्येक इन्द्रिय

का नाम लेकर उसे सीधे मार्ग पर चलाने की प्रेरणा की गई है। प्रत्येक इन्द्रिय के दुरुपयोग से ब्रह्मचर्य-हानि की सम्भावना है अतः ऋषियों ने एक २ इन्द्रिय को लक्ष्य में रख कर ऐसी आज्ञाएं प्रचलित की हैं जिनके पालन करने से उन सम्भावनाओं को सर्वथा रोक दिया जाय। उनकी आज्ञाओं का आधार बिलकुल वैज्ञानिक है। यही दर्शाने के लिए हम एक २ इन्द्रिय का वर्णन करते हुए पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर अर्वाचीन तथा प्राचीन विचारों की दृष्टि से कुछ लिखेंगे।

१—रूप।

मनुष्य के मनोविकारों को जागृत करने में आँख का हिस्सा बहुत बड़ा है इसलिए संयमी मनुष्य के लिए उन पर नियन्त्रण रखने की बहुत आवश्यकता है। आजकल का शहरों का जीवन बालक तथा बालिकाओं के सामने अधः पतन तथा नाश के दरवाज़े खोल देता है। वे जिधर आंख उठाते हैं उधर ही उन्हें बलात्कार पूर्वक खींच ले जाने वाले प्रलोभन उमड़ते हुए नज़र आते हैं। वे अपने को रोक नहीं सकते। प्रत्येक शहर नाटक तथा सिनेमाओं से भरा हुआ है। नाच, गीत, रंग, रूप सब मिलकर नवयुवक पर आक्रमण करते हैं-बेचारा सामर्थ्य न होने से दब जाता है। प्लेटो ने नाटकों के देखने के विषय में लिखा है कि उनके द्वारा मनुष्य पर कृत्रिम वस्तुओं का प्रभाव वास्तविक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक होने लगता है। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इसी प्रकरण में एक रशियन महिला का उल्लेख किया है जो नाटक के दृश्य में सर्दी से ठिठरते हुए मनुष्य को देखकर आँसु बहाती रही परन्तु उसका घोड़ा तथा कोचवान नाटक-शाला के बाहर रक्त के खून जमा देने वाले पाले में मरते रहे। नाच देखने का शौक़ युरुप तथा भारत, दोनों जगह पर्याप्त मात्रा में है परन्तु इसके भयंकर दुष्परिणामों

की तरफ़ आंखें खोलकर नहीं देखा जाता। यह सुजाखों का अन्धापन है। नाच के विषय में डा० कैलोग 'प्लेन फ़ैक्ट्स' के ३२१ पृष्ठ पर लिखते हैं :—

"आत्म-क्षय, रात्रि-जागरण, मध्य-रात्रि-भोजन, फ़ैशनेबल और अनुचित ड्रेस का परिधान, तथा शीत-इन दोषों के अतिरिक्त यह भी दिखाया जा सकता है कि नाचने से मनोभाव उत्तेजित होते हैं और कुवासनाएं जाग उठती हैं जिनके कारण मनुष्य कुकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसे घृणित कृत्य आचार-शास्त्र को धक्का पहुंचाने वाले तथा व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक उन्नति के घातक हैं।" चक्षुरिन्द्रिय का यह दुरुपयोग प्राचीन ऋषियों से छिपा न था। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए-' नर्तनं गीतवादित्रम् '-इस प्रकार की आज्ञाओं में नाचने, गाने, बजाने का सर्वथा निषेध कर दिया था।

ब्रह्मचर्य के नियमों में दर्पण देखने का भी निषेध है इसका यही कारण है कि दर्पण के उपयोग से कई नवयुवक अनुचित मानसिक-भावों के शिकार बन जाते हैं। इन विषयों पर हेविलौक एलिस ने बड़े परिश्रम से अनुसन्धान किये हैं। वे अपनी पुस्तक 'सैक्सुअल सिलेक्शन इन मैन' के १८७ पृ० पर लिखते हैं:—

"आजकल वेश्याघरों तथा अन्य फ़ैशनों की जगहों पर सर्वत्र दर्पणों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। भोले भाले बालक तथा बालिकाएं अपने को दर्पण में देख कर अपने विषय में तरह २ की कल्पनाएं करने लगते हैं और इस प्रकार दर्पण द्वारा पहली २ कुवासनाओं को सीख जाते हैं।"

क्या 'एलिस' महोदय के के कथन में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह है ? दर्पण का प्रयोग फ़ैशन के लिए बढ़ता चला जा रहा है। युवक लोग शीशे में चेहरे की एक २ रेखा को देखते हैं।

उनके हृदय में तरह २ की भावनाएं उठती हैं। उन सबके होते हुए ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकना असम्भव है।

'मौक़ा' मनुष्य की गिरावट का शायद सबसे बड़ा साधन है। बच्चों को गिरने के लिए मौक़ा मिल जाता है, बालिकाओं को गिरावट के लिए अवसर प्राप्त हो जाता है, बड़ी उम्र के पुरुष तथा स्त्रियों को भी गिरने के लिए अवसर ढूँढने की कठिनता नहीं होती। 'मौक़ा' ऐसी चीज़ है जिसके मिलते ही मनुष्य का धर्म-कर्म कूच कर जाता है। संसार को उपदेश देने वाला महात्मा आत्म-हत्या का महा-पातक कर बैठता है।

बच्चों को खुला छोड़ देना भयंकर पाप है। यदि उनकी प्रत्येक गति पर प्रेममय नियन्त्रण की आंख न रक्खी जाय तो उनका घृणिततम पातक सीख जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। माता पिता की मूर्खता पर हंसी आती है जब वे अपनी सन्तान की पवित्रता के गीत गाते सुन पड़ते हैं। वे समझते हैं कि उनके बच्चे गलियों में निकम्मे फिरते हुए भी आचार में किसी तरह गिर नहीं सकते। कितनी भारी भूल है। बच्चों को जब तक काम में नहीं लगाये रक्खा जायगा तब तक उनके सदाचारी बने रहने की आशा रखना निराशा को निमन्त्रण देना है। काम में लगे हुए बच्चों को गन्दी गलौच सीखने का 'मौक़ा' ही नहीं मिलता वे अधःपतन के पाठको सीख ही नहीं सकते। इसीलिए ऋषियों ने वेदारम्भ संस्कार के उपदेश में सब से प्रथम उपदेश-'कर्म कुरु' रखा था।,' काम करो, ख़ाली मत रहो, अपनी शक्तियों का प्रतिक्षण सञ्चय, सदुपयोग तथा सद्व्यय करते रहो।' जिन बालकों को गिरने का मौक़ा मिलता है, उनका नाश, दुःखदायी आश्चर्य से हमें, अपनी आंखों से, अपने सामने देखना पड़ता है। 'सैक्सुअल लाइफ़ ऑफ़ दी चाइल्ड' के लेखक ने एक बालक के विषय में लिखा है :—

" मैं एक १४ वर्ष के बालक को जानता हूं जो लगातार चर्च में जाता था और बड़ा मेहनती विद्यार्थी था। उसे अंग-भंग की बीमारी थी। उसकी माता बालक को दिखाने के लिए मेरे पास ले आई। परीक्षा करने पर मैंने देखा कि बालक को सुजाक की बीमारी थी। जब मैंने बच्चे की मां को सब कुछ सच २ कह दिया तब उसकी माता मुझ से क्रुद्ध हो उठी क्योंकि वह अपनी सन्तान के विषय में ऐसी बात सुन ही नहीं सकती थी। अधिक अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि १३ वर्ष की अवस्था से भी पहिले से यह बालक वेश्याओं से भी परिचित था "।

इस बालक का जो हाल था इस तरह का हाल न जाने कितने बच्चों का होगा परन्तु माता पिता अपनी सन्तान के विषय में यह सब कुछ सुनने के लिए तैयार नहीं होते और जब तक सम्पूर्ण नाश उनकी आंखों के सामने नहीं आ जाता तब तक निश्चिन्त बैठे रहते हैं।

इसी मौक़े की सम्भावना को दूर करने के लिए गुरुकुलों के नियमों के अनुसार लड़कों का लड़कियों के गुरुकुलों में तथा लड़कियों का लड़कों के गुरुकुलों में आना निषिद्ध ठहराया गया है। बुरे मौक़ों से बचने के विचार को दृष्टि में रखकर ही प्राचीन काल में गुरुकुलों की स्थापना जंगलों में की जाती थी। मौक़ा मिलने पर रूप, रस, शब्द, स्पर्श सभी द्वारा मनुष्य की गिरावट होती है इसलिए ब्रह्मचर्य रक्षा का सबसे बड़ा साधन ऐसे मौक़ों से बचना है। प्राचीन-शिक्षा-क्रम में तभी ब्रह्मचारी तथा आचार्य दिन रात, २४ घण्टे इकट्ठे जीवन व्यतीत करते थे। गिरावट के मौक़े से ही बालक को बचाये जाने का प्रयत्न किया जाता था।

२—शब्द

मनुष्य के मानसिक, अनुचित आवेगों को रोकने के लिए

नृत्य का निषेध किया गया है। नृत्य के साथ २ कान के व्यसन गीत आदि में मस्त रहने को भी ब्रह्मचर्य्य के नियमों में मनाई है। गाने बजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नहीं दिया गया। इस का कारण यही है कि गाना बजाना ब्रह्मचर्य में हानिकर है। इससे मनोविकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। हैविलौक एलिस ने गाने तथा मानसिक विकारों की उत्पत्ति का सम्बन्ध बड़ी सफलता से अपनी पुस्तक 'सैक्सुअल सिलैक्शन इन मैन' में दर्शाया है। वे उस पुस्तक के १२३ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

"इस में कोई सन्देह नहीं कि भिन्न २ प्राणियों में विशेष रूप से कीड़ों, पतङ्गों तथा पक्षियों में गीत का उद्देश्य नर का मादे को अपनी तरफ़ लुभाना ही होता है। डार्विन महोदय ने इस दृष्टि से बहुत अन्वेषण किये और वे इसी सिद्धान्त पर पहुंचे। इस विषय पर हर्बर्ट स्पेन्सर तथा उनके अनुयायियों ने शंका उठाई है परन्तु वर्तमान गवेषणाओं से यह बात स्थिर रूपसे सिद्ध हो चुकी है कि मधुर शब्दों तथा गीतों का परिणाम पक्षियों में नर और मादे का मिलना ही होता है। गीत तथा प्रेम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्राणि-जगत् में नर तथा मादे में से एकही को मधुर स्वर दिया गया है-दोनों को नहीं। इसका उद्देश्य मानसिक प्रसुप्त भावों को उद्बुद्ध करना नहीं तो क्या है?"

जिस प्रकार पशुओं में गाने तथा प्रेम के भाव प्रकट करने का भारी सम्बन्ध पाया जाता है उसी प्रकार मनुष्यों में भी यह नियम काम करता दिखाई देता है। एलिस महोदय पशु पक्षियों में इस नियम को दर्शा कर मनुष्यों के विषय में लिखते हैं:—

"जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पशु, पक्षियों में ही नहीं अपि मनुष्यों में भी यौवनावस्था में ग्रीवा के उस भाग की रचना में भारी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जिसका गाने में अधिक

उपयोग होता है तब इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि गाने का यौवन के मानसिक भावों के साथ बड़ा भारी सम्बन्ध है।"

"इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए, प्लेटो ने अपने काल्पनिक राज्य में, किस प्रकार की गान-विद्या की आज्ञा देनी चाहिये, इस प्रश्न पर विचार किया है। यद्यपि प्लेटो ने यह नहीं कहा कि संगीत का सदा ही मनुष्य पर उत्तेजक प्रभाव होता है तथापि वह विशेष प्रकार के संगीत का विकृत मानसिक भावों के साथ सम्बन्ध अवश्य मानता है। ऐसे संगीत से शराबीपन, औरतपन और निकम्मापन बढ़ता है और प्लेटो की सम्मति में पुरुषों का तो कहना ही क्या स्त्रियों को भी ऐसा संगीत नहीं सिखाना चाहिये। प्लेटो दो ही प्रकार के संगीत सिखाने के हक़ में है: युद्ध का अथवा प्रार्थना का।"

जब हम पशुओं, पक्षियों तथा मनुष्यों में सर्वत्र संगीत का सम्बन्ध विषय की वासना को जगाने के साथ ऐसा प्रबल देखते हैं तब प्राचीन ऋषियों का ब्रह्मचारियों के लिए गाने बजाने का निषेध करना उचित ही प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाने और गाने में भेद है। प्रत्येक गाना विषय-विकार को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। इसलिए प्रत्येक प्रकार का गाना भी ब्रह्मचारी के लिए नहीं रोका गया। सामवेद के गाने का तो ब्रह्मचारी के लिए विधान ही किया गया है। क्योंकि अधिकांश गीत का सम्बन्ध विषय-वासना के साथ है इसीलिए ब्रह्मचारियों के लिए गाने बजाने का निषेध करना पूर्ण-बुद्धिमत्ता का कार्य है।

३—गन्ध

नासिका तथा जननशक्ति में घनिष्ट सम्बन्ध है। प्राचीन रोम के लोग इस सम्बन्ध से भली प्रकार परिचित थे, वर्तमान

काल मे भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विश्वास पाया जाता है। यौवन काल में लड़कों तथा लड़कियों को बहुत नकसीर फूटने का कारण नासिका तथा जननेन्द्रिय का सम्बन्ध ही है। इसी समय नासिका के दूसरे रोग भी उठ खड़े होते हैं। अनेक बार नकसीर को जनन-प्रदेश में बर्फ़ से ठण्डक पहुंचा कर बन्द किया गया है। पुरुषों तथा स्त्रियों में हस्त-मैथुन अथवा सम्भोग के बाद अक्सर नकसीर फूटती देखी गई है। कई बार वीर्य-क्षय से नासिका द्वार का अवरोध तथा छींक आना आदि देखा गया है। कई लेखकों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। एलिस महोदय एक स्त्री का उल्लेख करते हैं जिस में उपर्युक्त कथन पूरा २ घटता था। फ़ीरी ने एक स्त्री के विषय में लिखा है जिसे विवाह के बाद नाक की बीमारियों की लगातार शिकायत रहने लगी थी। जे० एन० मैकैन्ज़ी ने अनेक दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि नवविवाहित पति-पत्नी में जुक़ाम के बहुधा पाये जाने का मुख्य-कारण भी यही है।

इस गिरावट के ज़माने में परमात्मा की प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग हो रहा है। बाज़ार तरह २ के गन्धों से भरा हुआ है। कस्तूरी का बहुत प्रयोग दिखाई देता है। पशुओं के शरीर से बनी हुई गन्धें उत्तेजक होती हैं अतः जंगली लोगों में उनका बहुत प्रचार था परन्तु ज्यों २ मनुष्य सभ्य होता जाता है त्यों २ पशुओं के शरीर की गन्धों के स्थान में फूलों की गन्धों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। फूलों से जो गन्ध बनते हैं वे भी मनुष्य की कुवासनाओं को उद्बुद्ध करते हैं क्योंकि इनकी रचना में वही पदार्थ होते हैं जो कस्तूरी आदि पशुओं के गन्धों में होते हैं। पशुओं से अथवा फूलों से दोनों से ही निकाला हुआ गन्ध सर्वथा समान है और दोनों के दुष्परिणाम ब्रह्मचर्य के लिए भयङ्कर हैं।

एलिस महोदय ने 'जरनल आफ़ साइकोलोजिकल मैडिसिन',

में से उद्धरण दिया है जिस का आशय यह है कि बनावटी फूलों के गन्धों का प्रयोग आचार के लिए अत्यन्त हानिकर है और सदाचार का जीवन व्यतीत करने के लिए फूलों से बचना ही उत्तम है। इसी कारण प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य्य के नियमों का उपदेश करते हुए आचार्य गन्ध-फूल-माला आदि उत्तेजक पदार्थों से बचने का आदेश करता था। आजकल के स्कूलों तथा कोलिजों के विद्यार्थी गन्धों का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि यह ब्रह्मचर्य्य के नियमों के प्रतिकूल है। सादा तथा पवित्र जीवन ही आदर्श जीवन है।

४—स्पर्श

बेन महोदय अपनी पुस्तक 'इमोशन्स एण्ड विल' में लिखते हैं कि 'स्पर्श, प्रेम का आदि और अन्त है'। स्पर्श मनोभावों को जागृत करने का सब से बड़ा साधन है इस बात को भारत के ऋषि, फ़्रीरो, मैन्टेगेजा, पैन्टा तथा एलिस सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। स्पर्श का मनुष्य को उत्तेजित करने में इतना असर है कि कई पश्चमीय लेखकों की सम्मति में वर्तमान सभ्यता की बढ़ती के साथ २ साधारण से स्पर्श को भी बुरा समझा जाने लगेगा। निस्सन्देह सभ्यता में ऐसे युग का आना सभ्यता की गिरावट का ही सूचक होगा परन्तु यदि ऊंची दृष्टि से देखने पर मनुष्य उन्नति के स्थान में अवनति ही कर रहा हो तब ऐसे युग का आ पहुंचना आश्चर्य की बात भी नहीं।

डा० ब्लौच अपनी पुस्तक 'दि सैक्सुअल लाइफ़ आफ़ अवर टाइम' के ३० पृ० पर लिखते हैं:—

"स्पर्श से मानसिक विकार उत्पन्न हो जाने का मुख्य कारण यह है कि त्वचा के संवदेना-तन्तुओं की रचना तथा उत्पादक-अङ्गों के तन्तुओं की रचना एक ही पदार्थ से हुई है इसीलिए प्राणिमात्र

के सब अवयवों की अपेक्षा त्वचा का असर मानसिक दुर्भावों को जागृत करने में तत्काल होता है। जो व्यक्ति, स्पर्श की भयानक आंधी से बच जाता है वह इसके दुष्परिणामों से भी बच जाता है जो उसे अन्धा बना देने वाले हैं।"

बालक तथा बालिकाओं में प्रायः एक दूसरे को गुदगुदी करने की आदत देखी जाती है। गुदगुदी से त्वचा के उत्तेजन द्वारा मनोविकृति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। बच्चों को इस आदत से बचाना चाहिए। अनावश्यक स्पर्श का कभी न होने देना ही ब्रह्मचर्य का नियम है।

कोमल बिस्तरों का भी ब्रह्मचर्य पर बुरा असर होता है। बच्चों के विषय में 'दि सैक्सुअल लाइफ़ आफ़ दि चाइल्ड' पुस्तक के लेखक ने बहुत अन्वेषणा की है। उनका कथन है कि बच्चों को गद्देदार बिस्तरों पर सोने देने से उनके हस्त-मैथुनादि अनेक पैशाचिक दुर्व्यसन सीखने की सम्भावना है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के नियमों में-'उपरि शय्यां वर्जय'-कोमल, गद्देदार बिस्तरों पर सोने का निषेध किया गया है।

एलिस महोदय अपनी पुस्तक 'मौडेस्टी, सैक्सुअल प्रिकौसिटी आटो इरौटिज्म' के १७५ पृ० पर लिखते हैं:—

"कई लेखकों ने लिखा है कि घोड़े की सवारी ब्रह्मचर्य के लिए ठीक नहीं है। घोड़े की सवारी से वीर्य-स्खलित हो जाने का ज्ञान कैथोलिक पादरियों को भी था। पुरुषों तथा स्त्रियों में रेल गाड़ी की गति से भी दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, यह बहुतों का अनुभव है"।

शास्त्रों में, ब्रह्मचारी को उपदेश देता हुआ आचार्य कहता है-'गवाश्वहस्त्युष्ट्रादि यानं वर्जय'-' बैल, घोड़े हाथी, ऊंट आदि की सवारी मत करो'। कई जगह तो सवारी मात्र का निषेध

किया गया है। ब्रह्मचारी को जिस तरह से भी हो सके ब्रह्मचर्य के खण्डित होने से बचाया जाय, यही भाव प्राचीन गुरुओं के मस्तिष्क में काम करता रहता था। स्पर्श के विषय में लिखा है :-

'अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव'-'इन्द्रिय स्पर्श कभी न करते हुए वीर्य-रक्षा करो'।

इन उपदेशों को पढ़ कर प्राचीन गुरुओं और आधुनिक गुरुओं में भेद स्पष्ट दीख पड़ता है। क्या आज गुरुकुलों के आचार्यों को छोड़कर किसी स्कूल अथवा कालिज का प्रिन्सिपल जनता के सम्मुख खड़े होकर अपने शिष्य को यह उपदेश देने का साहस कर सकता है कि 'बालक! इस संस्था में वीर्य-रक्षा करना तेरे जीवन का लक्ष्य होगा'? नहीं! शिक्षा का इसे उद्देश्य नहीं समझा जाता। पढ़ा लिखा कर रोटी कमाने लायक बना देने में स्कूल का काम खतम हो जाता है। प्राचीन गुरुकुलों का उद्देश्य ही पृथक् होता था। बालक को संयमी, सदाचारी बनाना उनका ध्येय था। पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं परन्तु आत्मिक उन्नति को सम्पूर्ण शिक्षा का लक्ष्य समझा जाता था। यह भेद प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षकों के नामों में भी दीख पड़ता है। आधुनिक शिक्षक का नाम 'हेड-मास्टर' या 'प्रिन्सिपल' है। 'हेड-मास्टर' का अर्थ है-मालिक'। 'प्रिन्सिपल' का अर्थ है-मुखिया'। जिन्हें अपने रोब जमाने से छुट्टी न मिलती हो, जो 'मालिकपन' और 'मुखियापन' के विचारों के नीचे दबे हुए हों वे आचार की देख-रेख कब करेंगे? प्राचीन शिक्षक के लिए शब्द ही 'आचार्य' का व्यवहृत होता था। शिक्षक मुखिया (गुरु) अवश्य था परन्तु 'आचार्य' अर्थात् सदाचार की शिक्षा देना उसका प्रधान-कर्त्तव्य था।

५—रस

रस में कई विषय मिले हुए हैं। गन्ध, स्पर्श तथा रूप का

भी इसमें समावेश है। गन्धादि विषयों का सेवन ब्रह्मचारी के लिए हानिकर है अतः रसीले पदार्थों का सेवन हानिकर स्वतः सिद्ध हो जाता है। शराब, चाय, काफ़ी, तम्बाकू तथा मिठाइयों का व्यसन सभ्यता की उन्नति (?) के साथ २ उन्नत होता चला जा रहा है। लोग पेटू होते जा रहे हैं। इन सबका ब्रह्मचर्य पर बहुत बुरा असर होता है।

शराब का जीवन के सार-तत्वों को बिगाड़ने में जो हाथ है उसे दर्शाने के लिए किसी डाक्टर का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। शराबी का नशे में अपने को भूलकर सदाचार के क्षेत्र से कोसों दूर चला जाना रोज़ की घटना है। हम इसके विषय में कुछ न लिखना ही सब कुछ लिख देने के बराबर समझते हैं। चाय तथा काफ़ी के भयङ्कर दुष्परिणामों से सर्वसाधारण परिचित नहीं है। हमें पूर्ण विश्वास है कि अनेक व्यक्ति चाय, काफ़ी के बुरे परिणामों से अपरिचित होने के कारण हा उनका उपयोग करते हैं। यथार्थ बात के ज्ञात होते ही वे इन्हें छोड़ने के लिए उद्यत हो जायेंगे। डा० क्लौथ का कथन है:—

"चाय, काफ़ी तथा मौरफ़ीन को अधिक मात्रा में लेने से मनुष्यत्व नपुंसक हो जाता है। ड्यूपी ने परीक्षण करके देखा है कि कई लोग जो दिन में ५–६ बार काफ़ी पीते थे नपुंसक होगये। काफ़ी छोड़ देने से वे ठीक हो जाते और शुरू कर देने से फिर नपुंसक हो जाते थे।"

तम्बाकू के विषय में डा० कैल्लौग 'प्लेन फैक्टस' में लिखते हैं:-

"मनुष्य के आचार पर तम्बाकू का क्या असर होता है इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते हैं। बचपन में इस दुर्व्यसन के लग जाने से शीघ्र ही कुवासनाएं प्रदीप्त हो उठती हैं और कुछ ही वर्षों में सदाचारी तथा पवित्र युवक को काम-वासनाओं का स्वाभाविक

मुखी बना देती हैं। उसके अन्तःकरण की भभकती हुई कुवासनाओं की ज्वालाओं से अश्लीलता तथा दुराचार के काले धुएं निकलने लगते हैं। देर तक तम्बाकू का प्रयोग करते रहने से नपुंसकता आ पहुंचती है"।

मिठाइयों का शौक़ भी मनुष्य की कुप्रवृत्तियों का कारण और परिणाम दोनों ही है। डा० ब्लौक 'सैक्स्युअल लाइफ़ आफ़ अवर टाइम', के ३४ पृ० पर कहते हैं :—

"मिठाइयों के लिए शौक़ का कुवृत्तियों के साथ सम्बन्ध है। जो बच्चे मिठाइयों के बहुत शौक़ीन होते हैं उनके गिरने की बहुत अधिक सम्भावना बनी रहती है और वे दूसरे बच्चों की अपेक्षा हस्त-मैथुनादि कुकर्मों की तरफ़ अधिक झुकते हैं।"

पेटूपन आजकल की नई बीमारी है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान युग में भूख से इतने लोग नहीं मरते जितने पेटूपन से मरते हैं। वीर्यरक्षा न करने का पेटूपन अवश्यम्भावी परिणाम है। दुराचारी व्यक्ति का रसनेन्द्रिय पर वश नहीं रहता। पेट भरे रहने पर भी उसकी भूख नहीं मिटती और वह सदा आवश्यकता से अधिक खा जाता है। उपवास करना उसके लिए असम्भव सा जान पड़ता है। डा० कैल्लोग लिखते हैं कि पेटूपन सदाचार का शत्रु है। अधिक खा जाने से वीर्य-नाश होना निश्चित है।

ब्रह्मचर्य के प्राचीन नियमों में इस सिद्धांत को प्रधानता दी गई थी कि हमारा मन भोजन से बनता है। उपनिषद् में लिखा है- 'अन्नमयं हि सौम्य मनः'। सात्विकाहार के लिए जगह २ प्रेरणा की गई है। ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करता हुआ आचार्य कहता- 'तैलाभ्यङ्गमर्दनाद्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व'। 'बहुत खट्टे, तीखे, नमकीन पदार्थ मत खाना' -राजसिक भोजन से कुसंस्कार जाग उठते हैं। बहुत बार भोजन करने का निषेध

करते हुए सायंप्रातः दो ही बार ब्रह्मचारी के लिए भोजन का विधान किया गया है। मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में लिखा है:—

"सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यंचातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥"

ब्रह्मचर्य्य का फल

ब्रह्मचर्य्य की चर्चा जितनी पञ्जाब और युक्त-प्रान्त में है इतनी शायद अन्यत्र कहीं नहीं परन्तु दुःख है कि इन्हीं प्रान्तों के लोगों में ब्रह्मचर्य्य के विषय में ऐसे भ्रम-पूर्ण विचार फैले हुए हैं जिन का निराकरण करना ब्रह्मचर्य्य की महिमा के गीत गाने की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। सर्व साधारण में यह विचार घर कर चुका है और दिनोंदिन करता चला जा रहा है कि ब्रह्मचारी को खूब हट्टा कट्टा पहलवान होना चाहिये। ब्रह्मचारी का शरीर पतला नहीं हो सकता। कई बार तो इसी विचार के प्रभाव के कारण कई भाई अच्छे-भले ब्रह्मचारियों पर भी अपने कृपा कटाक्ष छोड़ने लगते हैं। उनकी सम्मति में कोई पतला आदमी ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता। दुर्भाग्यवश यदि कोई ब्रह्मचारी शारीरिक दृष्टि से पतला दीख पड़ता हो तो उसका अन्य सब गुणों के होते हुए भी ऐसे लोगों से बचना मुश्किल हो जाता है। वह बेचारा काम क्या करेगा—उसे तो ऐसे लोगों के चुंगल से छूटने के लिए सफ़ाई पेश करते २ ही छुट्टी नहीं मिलती!

ब्रह्मचर्य्य के से महान् विषय पर बोलने के अधिकार का इस्तेमाल उन्हीं लोगों को करना चाहिये जिन्हों ने इस विषय को

भलीभांति समझा हुआ हो। ब्रह्मचर्य का नाम ले कर चिल्लाने वालों में से बहुत से ब्रह्मचर्य की महिमा को बढ़ाने के स्थान पर उसे घटाने में सहायक बन रहे है क्योंकि, स्मरण रहे, किसी भी कार्य की हानि अन्य उपायों से इतनी नहीं होती जितनी उसके यथार्थ स्वरूप को न समझ कर उसके साथ अन्धे प्रेम से होती है।

इस में सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक वृद्धि होती है। इसमें भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य की शक्ति बड़ी है। परन्तु यह बात सरासर झूठ है कि ब्रह्मचारी पतला नहीं हो सकता। हां! ब्रह्मचर्य और दुर्बलता का साथ नहीं, दुर्बलता का, कई मौकों पर अर्थ ही ब्रह्मचर्य का अभाव होता है परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि ब्रह्मचारी पतला नहीं हो सकता सर्वथा भ्रम-मूलक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शक्ति है, क्रिया-शीलता है, तत्परता है, उत्साह है, ओजस्विता है, सहन शीलता है। इसका अर्थ मोटापन नहीं, पहलवानी नहीं, शरीर में मांस या वज़न का बढ़ जाना नहीं। वे लोग बड़ी भूल करते हैं जो किसी व्यक्ति को कार्य-शील तथा स्वस्थ देखकर भी केवल उसके पतले होने के कारण अपने दिमाग़ में तरह २ की कल्पनाएं करने लगते हैं वे ब्रह्मचर्य का नाम लेते हैं परन्तु उसके रहस्य को नहीं समझते।

मोटे आदमियों की संख्या दुनिया में कम नहीं। बैठे रहने से मुटापे को छोड़ कर और क्या आयगा? परन्तु इस से मोटे आदमी को आदर्श ब्रह्मचारी समझ लेना और शरीर से पतले दिखने वाले व्यक्ति से प्रश्न करने लग जाना ब्रह्मचर्य के तत्व को ही न समझना है। अथर्ववेद के ११ वें काण्ड का ५ वां सूक्त 'ब्रह्मचर्य सूक्त' है। इस सूक्त में जहां पर भी ब्रह्मचर्य का नाम आता है वहां साथ में 'तप' का नाम भी मौजूद है। २६ मंत्रों के इस सूक्त में १५ बार तप शब्द को दोहराया गया है। 'स आचार्यं तपसा पिपर्ति',

'ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत' 'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी' इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में तप की मुहारनी जपी गई है। तप से मुटापे का वही सम्बन्ध है जो ३ का ६ से। इसलिए ब्रह्मचर्य से जो लाभ होते हैं उनके विषय में सोचते हुए सदा ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य देता है, सहन शक्ति, उत्साह तथा साहस देता है। ब्रह्मचर्य से मानसिक शक्तियों का विकास होता है, आत्मा उन्नति के मार्ग पर चलने लगता है। ब्रह्मचर्य्य का यही दावा है—दूसरा कुछ नहीं।

नोट—स्थानाभाव के कारण कई आवश्यक विषयों का इस निबन्ध में उल्लेख नहीं किया जा सका। जो महानुभाव इस विषय पर अधिक पढ़ना चाहें व लेखक की आंग्लभाषा की पुस्तक Confidential Talks to Youngmen on Sexual Matters को पढ़ें।—

॥ ओ३म् ॥

वैदिक यज्ञ हिंसा रहित होते थे

(राज्य रत्न श्री पं० आत्माराम जी अमृतसरी)

काशी के नामी पण्डित माननीय श्रीयुत भगवान दास जी के लेखों के आजकल पढ़ने वाले सज्जन वेदों को ऋषियों के विश्व विद्या कोष के रूप में देख चुके हैं। यदि वेदों को उक्त दृष्टि से देखा जावे, तो केवल एक ही आशंका, वेदों के ज्ञान के सम्बन्ध में हो सकती है और वह यह कि जिस प्रकार आजकल के यूरपादि के विश्वविद्या-कोषों के विषय दस वर्ष के पीछे संशोधित हो जाते हैं, क्या वेदों की भी भविष्य में वही गति होगी? इसके उत्तर में हम कहेंगे, कि वेद यथार्थ ज्ञान (सत्य-विद्या) के विश्व-विद्या कोश हैं। उनके अन्दर जो जो नाना विज्ञान के अनेक सिद्धान्त वर्णन किये गये हैं, वह गणित विद्या समान ऐसे सत्य हैं कि उनमें कुछ भी संशोधन वा परिवर्तन हो नहीं सकता। इस लिए जहाँ हमें वेदार्थ समझने के लिए वेद के शब्दों को यौगिक वा योग-रूढि निरुक्त के आधार से स्वीकार करना चाहिये वहां उनके अर्थ भी तर्क ऋषि अनुसार निरुक्त आदेश से करने होंगे और साथ ही वैदिक विज्ञान की विशेषता यह होगी कि वह तीन कालों में सत्य विद्या वा यथार्थ ज्ञान के रूप में रहे।

प्रश्न हो सकता है कि जब यूरोप के महा विद्वान् निर्भ्रान्त रीति से किसी विषय वा तत्व को नहीं जान सके तो वेद के विषय में ऐसी निर्मूल कल्पना क्यों की जावे? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि वादी का यह कथन सर्वथा ठीक नहीं। कारण कि न्यूटन साहेब ने जो भू-आकर्षण का सिद्धान्त अनुभव कर संसार में प्रचार किया इसमें क्या क्या परिवर्तन वा संशोधन प्रति १० वर्ष

यूरोप वाले अपने अपने विश्व विद्या-कोषों के रचते समय करते हैं। उन्होंने ऐसा यदि नहीं किया और १०० वा उससे अधिक वर्ष उसको हो गये तो बताइये वादी की बात का क्या मतलब रहा? वादी यही विवश होकर कहेगा कि भू-आकर्षण का सिद्धान्त न्यूटन साहेब का आज तक अटल ही है। Steam वा वाष्प में धक्का देने का बल है। इस ज्ञान के आधार से रेल गाड़ी चलाई गई। रेल गाड़ियों के रंग रूप बदले जारहे हैं पर हमें कोई अंग्रेज़ वादी यह बतावे कि जेम्स वाइट महोदय ने जो गुण आज से बीसियों वर्ष पूर्व भाप का दर्शाया उसमें क्या भेद आज तक हुआ। यदि नहीं तो सोचो कि वादी का मतलब क्या है? गणित विद्या के सिद्धान्त तो यूरोप वाले विवश होकर अटल मानते ही हैं। भू-आकर्षण जो ज्योतिष का सिद्धान्त है, उसको भी अब अटल मानने लगे। वाष्प के गुणों के ज्ञान को भी अटल माने बिना छुटकारा नहीं, इस लिए पदार्थ विद्या का सिद्धान्त भी अटल श्रेणी में आगया। कोनेन को ज्वर नाशक कई वर्षों से मान रहे हैं। यह वैद्यक विद्या का सिद्धान्त अटल श्रेणी में दाख़िल होगया। ज़मीन गोल है, और सूर्य की परिक्रमा करती है। इस भूगोल विद्या के तत्त्व को भी यह अटल ही तो कहेंगे।

रसकिन साहेब प्रसिद्ध कवि का मत है कि साहित्य के दो भाग 'स्थायी' तथा 'अस्थायी' हो सकते हैं। रसकिन साहेब के युक्त विचार अब दिनों दिन इंग्लैण्ड में फैल रहे हैं-इस समय इंग्लैण्ड के नामी लेखक तथा पण्डित महाकवि शेक्सपियर की कविताओं को-

" स्थायी साहित्य "

की पदवी दे चुके और उसको " Poet for all times. " अर्थात् " सब कालों का कवि " लिख चुके हैं। यह बातें दर्शा रही हैं कि यूरोप में गणित के अतिरिक्त नाना विद्याओं तथा उत्तम कविता

को स्थायी वा अटल साहित्य मान रहे हैं। उसी स्थायी वा अटल साहित्य वा अटल विश्व विद्या कोष की श्रेणी में आदि चार ऋषियों द्वारा प्रकाशित तथा सैंकड़ों अन्य ऋषियों द्वारा अनुमोदित चार वेद संहिताएं हैं। इसलिए वैदिक सिद्धान्तों का दूसरा नाम समझना चाहिए

सत्य विद्या (अटल ज्ञान)

यदि वेद ने ईश्वर को यजु० अ० ४० में 'अकाय' दर्शाया है, तो कोई भी विद्वान् वेद में इसके विरोध वचन का सिद्धान्त नहीं मान सकता। ठीक इसी प्रकार यज्ञ सम्बन्धी संहिता यजुर्वेद के पहिले ही मन्त्र में जब पशुओं की रक्षा का विधान आ गया, तो कोई भी विद्वान् इसके विरुद्ध कल्पना, अटल ज्ञान के भण्डार वेद उपदेश में नहीं कर सकता।

शर्मन (जर्मन) देश के पण्डित आरथर शोपनहार का उत्तम मत है कि जब तक ज्ञानी पुरुष पूर्ण रूप से एकान्त वास करके मन को स्थिर वा शांत नहीं करता तब तक विद्या के यथार्थ दर्शन नहीं कर पाता। सृष्टि के आदि काल में एकान्त सेवन के लिए कितनी सुविधा थी इस बात का प्रत्येक विद्वान् सहज से अनुमान कर सकता है। उस काल के आदि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को अपने मन शान्त करके योगदृष्टि द्वारा विद्या के अटल स्वरूप को जानने का भारी सु-अवसर था। इसलिए आदि ज्ञान वेद के बराबर पूर्ण रूप से किसी बात का गूढ़ रहस्य कोई भी नवीन ग्रन्थ नहीं खोल सकता।

यवन तथा ईसाई बन्धु मानते हैं कि उनके बाबा आदम बाग़े अदन (उद्यान) में रखे गये थे और उनका भोजन फल तथा अनाज का था। उन्होंने कुरबानी अर्थात् पशुवध बलि कभी नहीं दी। Fruits and Farencea, (फल और अनाज) नामी सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में जो वेजिटेरियन सोसाइटी मानचेस्टर की तरफ़ से

प्रकाशित हुआ है, दर्शाया गया है कि मनुष्य को स्वाभाविक दशा में, जब कि वह अपनी योगदृष्टि से भी काम ले सकता है, उसकी इन्द्रियां उसको फल, अनाज खाने की तरफ़ ही ले जाती है।

(१) सब फल तथा अनाज देखने में सुन्दर वा रोचक होते हैं–अतः आंखें इस भोजन प्राप्ति में सहायक हैं।

(२) प्रत्येक फल तथा अनाज में भिन्न २ प्रकार की उत्तम तथा रोचक सुगन्धि अवश्य होती है। अतः मानवी गन्ध शक्ति भी फल, अनाज के परखने में सहायक होकर प्रसन्न होती है।

(३) जिह्वा वा रस चखने की शक्ति भी पूर्ण प्रकार से फल अन्न को खाकर तृप्त और प्रसन्न होती है।

(४) स्पर्श शक्ति भी फल अनाज को छूकर प्रसन्नता पाती है

(५) कर्ण को भी वृक्षों तथा पौधों के हिलने के शब्द प्रिय ही लगते हैं।

(६) हाथ भी इनको ग्रहण करने के लिए प्रसन्न तथा उद्यत होते हैं। इसके विपरीत बकरी बकरे को देखकर स्वाभाविक रीति से कभी भी " स्वाभाविक मनुष्य " अर्थात् योगी पुरुष के मनमें उसको आहार समझने की कल्पना तक नहीं हो सकती और पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त को मानने वाला ज्ञानी ऋषि कभी स्वप्न में भी, पशु वध द्वारा, पापनिवृत्ति के भाव की कल्पना नहीं कर सकता। मांस आग में पड़ कर भारी दुर्गंधि तथा विष फैलाने का कारण है। चमार लोगों के महल्लों में जाकर हम चर्म की भारी दुर्गन्धि का अनुभव कर सकते हैं। मांस रक्त आदि को क़साब खाने में जाकर देखने से एक मेधावी कवि तथा योगी स्वभाव के दैवी मनुष्य को शिर पीड़ा तथा मूर्छा आ सकती है। हत्या कर्म के अस्वाभाविक होने का निश्चय पशु वध करने वाला स्वयं अनुभव कर सकता है। इसलिए आदर्श मनुष्य (योगी जन) की दैवी स्वाभाविक इन्द्रियाँ कभी

उसको पशु वध करने के क्रूर कर्म की प्रेरणा नहीं कर सकतीं। हवन यज्ञ का परम उद्देश्य तो रोगनिवृत्ति और रोग के अदृष्ट रोग अणुओं तथा जन्तुओं को दूर भगाना है। क्या वह उद्देश्य कभी दुर्गंधि पूर्ण मांस के जलाने से पूर्ण हो सकता है? नहीं, नहीं, कभी नहीं! आज यूरोप के नामी डाक्टर मान चुके हैं कि हवन वा धूप सामग्री के "सुगंधित पदार्थ" सुगन्धि बल से रोगों के Germs (अदृष्ट रोग जन्तुओं) को दूर भगा देते हैं। उस हवन क्रिया में माँस की बलि डालने की लीला उस समय जारी हुई, जब लोग परमशास्त्र वेद और उसके सत्यार्थ को भूल चुके थे। वैदिक काल में वैदिक होम यज्ञ, पशु हिंसा से रहित थे, यह बातें ऋषि योगियों के स्वभाव, हवन के उद्देश्य और मानवी भोजन पर विचार करने से समझ में आ सकती हैं। वह ऋषि जिनके नाम वेद के पृष्ठों में पाए जाते हैं महा विद्वान् होने के अतिरिक्त योगी भी थे। आज से कुछ वर्ष पूर्व योग दृष्टि और योग बल का समझना यूरोप तथा अमेरिका के विद्वानों के लिए कठिन था पर भूलोक पर दो योगियों के वर्तमान काल में तपोबल और विद्याबल को प्रत्यक्ष देख लेने पर अब उनको निश्चय हो गया कि समाधि अवस्था में योगी किसी भी विद्या के सिद्धान्तों के यथार्थ दर्शन कर सकता है। इनमें से एक योगी तो महर्षि स्वा० दयानंद नामी भारत में हुए हैं और दूसरे इनके समकालीन पाताल (अमेरिका) देश में हुए जिनका नाम एण्ड्रो जैकसन डेविस था। डेविस महोदय का कथन है कि जिस प्रकार ईश्वर ने प्रत्येक पशु को Instinct (अन्तर्ज्ञान शक्ति) दी है उसी प्रकार मनुष्य को Intuition (योग दृष्टि) दी है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य महा कवि नहीं हो सकता, यद्यपि संगीत और कविता के लिए रुचि प्रत्येक जन में है। ठीक वैसे ही तपस्वी मेधावीजन उच्च कक्षा के योगी हो सकते हैं। पशु अपनी अन्तर्ज्ञान शक्ति के कारण अपने

भोजन को परखने तथा प्राप्त करने में सामर्थ्य होते हैं। मेधावी वा योगीजन पशुओं के समान अपनी अन्तर्ज्ञान शक्ति (योगदृष्टि द्वारा) मानवी भोजन की परख तथा प्राप्ति करने में पूर्णरूप से सफल हो सकते हैं। आदि सृष्टि में जो आदि योगी हुए उनकी योगदृष्टि पूर्ण कही जा सकती है। जो जो अनुभव योग समाधि में उनको मानवी भोजन तथा पशुओं के साथ व्यवहार करने के लिए प्राप्त हुए वह गणित विद्या के समान अटल सिद्धान्तों के रूप में वेदों में पाए जाते हैं। पशुओं का रक्षण करना यह सत्य उपदेश, शब्द प्रमाण के रूप में उनको मिला और समाधि द्वारा उनके प्रत्यक्ष अनुभव ने और भी दृढ़ता की मोहर इसपर लगादी। उनको यज्ञ, श्रेष्ठतम कर्म के रूप में दृष्टि पड़ा जैसा कि यजु० अ० १ मं० १ में लिखा है:—

इषे त्वोर्जे...... श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे............पशून्पाहि।

(यजु० अ० १ मं० १)

कवि जन कहा करते हैं कि अमुक पण्डित इतना भारी विद्वान् है कि उसके लेखों को यदि गागर में सागर भरने की उपमा दें तो अनुचित न होगा। कवियों की उक्ति पुराने ऋषियों के वचन संबन्धी पूर्ण रूप से घट सकती है। यदि हम कहें कि निरुक्तकार ने अर्थ रूपी महान् सागर को शब्दरूपी गागर में भर कर दिखा दिया है तो इसमें कुछ भी अति-उक्ति न होगी।

यज शब्द का सच्चा स्वरूप समझने के लिए हमें देखना चाहिए कि वह क्या तत्व दर्शा रहा है? निरुक्त के प्रमाण के आगे किसी भी यूरोप के विद्वान् की कल्पना ठहर नहीं सकती। यज्ञ शब्द का अनुवाद जो युरोप के अनेक विद्वान् Sacrifice वा कुर्बानी अथवा 'वध-बलि, करते थे उनको 'प्रोफ़ेसर मैकसमूलर' ने अपनी पुस्तक Physical Basis of Religion. (फ़िज़िकल बेसिस ओफ़

रिलीजन) लिखकर यह जना दिया कि प्राचीन काल में 'यज्ञ' शब्द के अर्थ ' कर्म ' वा कार्य के थे और उसमें पशु हिंसा का कुछ भी सम्बन्ध न था। ' मैक्समूलर साहेब ' ने यद्यपि ' निरुक्त' का नाम नहीं दिया, पर वास्तव में निरुक्त ने ही उनको यज्ञ शब्द के सच्चे तथा पुराने अर्थ बतलाए।

महर्षि दयानन्द के उत्तम तथा युक्त वेदभाष्य की आधार शिला यदि हम ' निरुक्त को कहें, तो इसमें कुछ भी अति-उक्ति न होगी।

यज्ञ शब्द के अर्थ निरुक्त ने ' संगतिकरण, देवपूजा ' और ' दान ' किये हैं। संगति करण के एक अर्थ जड़ पदार्थों को मिलाने और दूसरे मनुष्यों के संगठन के होते हैं। देवपूजा के एक अर्थ विद्वानों के सत्कार और दूसरे सृष्टि के पदार्थों के उपयोग के हैं।

दान शब्द के अर्थ परहित धन दान के हैं। अतः संसार में ५ प्रकार के कर्मों को हम वैदिक यज्ञ का स्वरूप कह सकते हैं। अब हम पांच प्रकार के दृष्टान्तों से उक्त बात को दिखाएंगे।

(१) जड़ पदार्थों को संगतिकरण के दृष्टान्त आप होम, हवन, पाकशाला, तथा शिल्पकला आदि में पाएंगे—

(२) समाज संगठन वा राष्ट्र संगठन का स्वरूप, समाज वा राष्ट्र उन्नति में आप अनुभव कर सकेंगे। पुराने समय का ' अश्व-मेध यज्ञ' इसका एक दृष्टान्त समझिये। आजकल लोग अश्वमेध के अर्थ ऐसे यज्ञ के मान रहे हैं जिसमें घोड़े की हिंसा हो। पर यदि हम प्राचीन ग्रंथ ' शतपथ-ब्राह्मण' को देखें तो उसमें आपको निम्न लेख मिलेगा :—

राष्ट्रंवाऽअश्वमेधः। राष्ट्रऽएते व्यागच्छन्ते येऽश्वं रक्षन्ति तेषां यऽउद्दचं राष्ट्रेणैव, ते राष्ट्रं भवन्त्यथये नोद्दचं गच्छन्ति राष्ट्राचे व्यवच्छिद्यन्ते तस्माद् राष्ट्र्यश्वमेधेन यजते परा वा

एष सिच्यते योऽबलो ऽश्वमेधेन यजते यद्यमित्रा अश्वं विन्देर-न्यज्ञोऽज्ञोस्य विच्छिद्येत पापीयान्स्याच्छतं कवाचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य संतत्याऽअव्यवच्छेदाय न पापीयान्भवत्यथान्यमानीय प्रोक्षयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः ॥

(शतपथ १३-१-६-३, पृष्ठ ६३८)

अर्थ—राष्ट्र का नाम अश्वमेध है। राज्य में जो यह काम करते हैं वह अश्वमेध है। राज्य में जो यह काम करते हैं वह अश्व की रक्षा करते हैं। उनमें से जो ऋचा पर नहीं चलते, वह राज्य से भ्रष्ट हो जाते हैं। इस लिए राज्य की इच्छा करने वाला अश्वमेध (राज्य संगठन) के साथ यज्ञ करता है; उसका बहुत देर से अभिषेक होता है। यदि मित्रों से रहित अश्वमेध (राज्य प्रबंध) करे तो उसका यज्ञ नाश हो जावे। यदि राजा पापी हो जावे तो सैंकड़ों महावीर यज्ञ की रक्षा करें। पापी नहीं होना चाहिये, उसके स्थान पर दूसरे का अभिषेक करना चाहिये यही इसका प्रायश्चित्त है।

'वह अश्व की रक्षा करते हैं।' यह शब्द प्रत्येक जिज्ञासु को मनन करने चाहिएं। कहां हिंसा और कहाँ रक्षा ? रक्षा शब्द ने सिद्ध कर दिया कि वैदिक काल में अश्वमेध राज्यवृद्धि के लिए किया जाता था और राज्य की रक्षा ही उसका लक्ष्य था।

अब हम उक्त अति प्राचीन ग्रन्थ से ही 'गोमेध' सम्बंधी वचन प्रस्तुत करते हैं।

अथ गौः। प्राणमेवैतयात्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नं हि गौरन्नं हि प्राणास्तां रुद्राय होत्रे ददात् ॥

(शतपथ, कां०, ४-३-४-२५, पृष्ठ ३३१)

अर्थ—गौ के विषय में। प्राण ही (गौ है)। [मनुष्य] इस

से अपनी ‘ रक्षा ’ करता है। प्राण ही गौ है। अन्न ही गौ है। गौ रूपी अन्न ही प्राण है, उसको रुद्र (बलवान्) होता को दिया।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि गौ शब्द के अर्थ उक्त ग्रन्थ में ‘ अन्न ’ और ‘ प्राण ’ के हैं।

अतः पाकयज्ञ जिस में हम रोज़ अन्न को पकाते तथा उसका संस्कार करते हैं। ‘ गोमेध ’ यज्ञ है। प्राणायाम तथा व्यायाम जिस के द्वारा प्राण शक्ति का संगठन शरीर में होता है ‘ गोमेध ’ यज्ञ का दूसरा रूप है।

(३) प्राचीन काल में जनक से राजर्षि बड़े बड़े ऋषिमुनियों तथा देवियों को बुलाकर शास्त्रों के सिद्धान्तों पर उनके भाषण सुनते तथा संवाद द्वारा उनसे संशय [illegible] थे और इस यज्ञ में आए हुए विद्वानों [illegible] सत्कार करते थे। यह देवपूजा थी। आजकल भी पुरातन आदि विद्वानों को यज्ञ पर दक्षिणा देने की जो उत्तम रीति है वह देवपूजा का प्रबल दृष्टान्त है।

(४) सूर्य, चन्द्र, वायु आदि की दैवी शक्तियां तथा इनसे लाभ लेने के लिए जो जो उत्तम कर्म मनुष्य करते हैं वे सब देव पूजा का दूसरा दृष्टान्त हैं।

(५) परहित धन दान करना यह भी यज्ञ का भारी अंग है। विद्वान् वा द्विज तो अपने २ कर्मों द्वारा दक्षिणा आदि धन को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकते हैं, अनाथ रोगी तथा निराधार पुरुष स्त्रियों के प्राण बचाने के लिए ‘ दान ’ ही परम साधन है। पुराने समय में प्रत्येक आर्य दान की महिमा को जानता था। इसी लिए कि इस देश में चारों वर्ण परस्पर बंधुभाव [illegible] हुए लोक और परलोक के सुख भोगने के योग्य होते थे। दान का [illegible] जन मनुष्य वा पशु आदि की प्राण रक्षा ही है। किसी पशु का मारना बतलाइए उक्त ५ अर्थों के अन्दर कहां आ सकता है ?

लाहौर आ० समाजरत्न महात्मा स्वर्गस्थ श्री दुर्गाप्रसाद जी ने तो कई वर्ष हुए Harbinger (हारबिंजर) नामी अंगरेजी पत्र में एक लेखमाला में दर्शाया था कि महाभारत में जो महाराजा वसो के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है उसमें कहीं भी घोड़े की हिंसा का लेख नहीं है।

कई लोग 'सोम यज्ञ' के नाम से बकरे को यज्ञ निमित्त मारा करते थे। अब ऋषि दयानन्द के उत्तम वेद भाष्य तथा आर्यसमाज के प्रचार के कारण वह प्रथा बंद सी होगई है। वह लोग उस समय यजुर्वेद का एक मंत्र भी पढ़ा करते हैं जिसमें यह पाठ है:—

वाचं ते शुन्धामि·······चरित्रांस्ते शुन्धामि ।

(यजु० अ० ६ मं० १४)

महर्षि दयानन्द जी के यजुर्वेद भाष्य देखने से प्रत्येक जिज्ञासु जान सकता है, कि यह मंत्र वास्तव में गुरु के शिष्य संबन्धी धर्म का बोधक है। इसका अर्थ यह है कि :—

"मैं तेरी वाणी को शुद्ध सामर्थ्य युक्त करता हूं—
मैं तेरे चरित्र को शुद्ध सामर्थ्य युक्त करता हूं"

इस मंत्र में एक भी शब्द ऐसा नहीं जिससे किसी मनुष्य वा पशु हिंसा का लेश मात्र भी अर्थ निकलता हो।

यदापा अघ्न्या इति····(यजु० अ० २० मं० १८)

इस मंत्र में जो 'अघ्न्या' शब्द आया है उसका अर्थ ऋषि दयानन्द वेदभाष्य में 'न मारने योग्य गाय' के करते हैं और संस्कृत के सब कोशों में इसके यही अर्थ हैं।

"(अघ्न्या) हन्तुमयोग्या गावः" देखो पृष्ठ २२०३

उक्षा समुद्रो······· (यजु० अ० १७ मं० ६०)

में जो 'उक्षा' शब्द आया है उसका भाष्य ऋषि दयानन्द इस प्रकार करते हैं :—

" (उत्ता) वृष्ट्या सेचकः "

अर्थात् ' वृष्टि जल से सींचने वाला ' देखो पृ० १८०२

उक्त प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि गाय के लिए कैसा उत्तम भाव पूर्ण शब्द वेद में

अघ्न्या

आया है, जिसके अर्थ ही ' न मारने योग्य ' के हैं।

' उत्ता ' शब्द का अर्थ बैल भी होता है, किन्तु निरुक्त से ऋषि दयानन्द ने जो इसके उत्तम अर्थ सींचने वाला वृष्टि जल किये हैं उससे उनके ऋषिपन का बोधन हो रहा है।

श्री सयाजी साहित्य माला बड़ौदा के ' समुद्रगुप्त ' नामी उत्तम हिन्दी पुस्तक के पृ० ११ पर महोदय ' कोलब्रुक ' के निम्नलिखित वचन मनन करने योग्य हैं। इनसे सिद्ध होता है कि अश्वमेध तथा ' पुरुषमेध ' हिंसा रहित कर्म थे न कि कुरबानियां।

"The Ashwamedha and Purushmedha celebrated in the manner directed by this Yajurveda are not really sacrifices of horses and men."

अर्थ—" अश्वमेध और पुरुषमेध जो इस रीति पर यजुर्वेद अनुसार किये जाते थे वह वास्तव में घोड़ों और मनुष्यों के वध बलिदान नहीं थे।" Professor F. B. Jevons (प्रोफ़ैसर, एफ़, बी० जेवन्स) अपनी पुस्तक Comparative Religion (तुलनात्मक धर्म विचार) में यज्ञों में हिंसायुक्त बलिदान होने का एक हेतु अपनी कल्पना से यह देते हैं कि मनुष्य बलिदान किये गए पशुद्वारा अपने पापों से छूटना चाहते थे। प्रोफ़ैसर साहेब का यह विचार शास्त्रहीन मनुष्यों के लिए ठीक हो सकता है, किन्तु वैदिक काल के वैदिक आर्यों के लिए नहीं। कारण यह कि वैदिक आर्य न्या-

करण शास्त्र के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्र कर्म कर्त्ता तथा कर्मफल भोक्ता मानते थे। "स्वतंत्रः कर्त्ता" यह व्याकरण शास्त्र का सूत्र क्या वह कभी भूल सकते थे ? जो रात दिन नीति शास्त्र के इन बचनों को रटते थे किः—

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः" अर्थात् जो अपने समान सब प्राणियों से व्यवहार करे वही पंडित है।

जिनके आचार का महा वाक्य यह रहा हो कि "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" अर्थात् भले वा बुरे कर्मों के फल अवश्य भोगने ही हैं, वह कभी हिंसाशील नहीं हो सकते। भूलोक में आर्यजाति अर्थात् हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख सबका सर्वमान्य सिद्धान्त पुनर्जन्म और कर्मफल भोग है। जो विदेशीय विद्वान् यज्ञों में पशु हिंसा की कल्पना करते हैं वह आर्य्य प्रजा के धार्मिक विचारों से अनभिज्ञ हैं, वह पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझते ही नहीं। पुनर्जन्म के उत्तम और शास्त्रीय सिद्धान्त के मानने वाले वैदिक आर्य क्या कभी अपने पापकर्मों से बचने के लिए किसी मनुष्य वा पशु की वध बलि की कल्पना कर सकते हैं ? नहीं, नहीं, कभी नहीं। यही तो कारण है कि वैदिककाल के पीछे जब वाममार्ग ने यज्ञों की आड़ में तथा उनके साथ पशुहिंसा जारी की तो बुद्धदेव ने उसका खंडन यह कहते हुए किया कि "हे आर्य-संघ ! मैं तुमको तुम्हारे ही प्राचीन आर्यों का पुराना धर्म अहिंसा का बता रहा हूं।" (देखो आर० सी० दत्त कृत इतिहास तथा बुद्ध जीवन चरित्र)।

अमेरिका (पाताल) के मेक्सिको (Mexico) की पुरानी आर्य प्रजा हवन में मकई, धान डालती थी उसने कभी मांस नहीं डाला। वाम मार्ग ने भारत में अवैदिक हिंसा युक्त बलि की रीति चलाई।

प्रश्न-हम सुनते हैं कि प्राचीन वैदिक काल में पशुओं की ही नहीं किन्तु मनुष्यों की भी बलि उनको मार कर दी जाती थी ?

उत्तर-वैदिक काल में ऐसा नहीं होता था, कारण कि यजुर्वेद के इस मंत्र से मनुष्य, पक्षी आदि द्विपद् और गाय, भैंस, बैल, पाड़ा, बकरा,बकरी,भेड़,भेड़ी, घोड़ा, घोड़ी आदि सब चतुष्पद् को त्रिविध शान्ति देने का विधान है अर्थात् प्राण रक्षा इसमें आगई। जो लोग नरमेध, अश्वमेध, अजमेध, गोमेध से मनुष्य, घोड़ा, बकरा और बैल की हिंसा वेद में दर्शाते हैं वह ज़रा आंखें खोल कर इस मंत्र पर विचार करें।

"इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।

(यजु० अ० ३६ मं० ८)

अर्थ-हे जगदीश्वर जो आप (इन्द्र) बिजली के तुल्य (विश्वस्य) संसार के बीच (राजति) प्रकाशमान हैं, उन आपकी कृपा से (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्य तथा पक्षी आदि के लिए (शम्) त्रिविध सुख (अस्तु) होवे और हमारे (चतुष्पद्) गाय, अश्वादि के लिए त्रिविध सुख होवे।

प्रश्न-मालूम होता है कि हवन की सामग्री में पशुमाँस वैदिक काल में डाला जाता होगा?

उत्तर-नहीं यह बात नहीं। पारसी लोग जो वैदिक आर्यों के समान न केवल यज्ञोपवीत ही धारण करते हैं किन्तु जिनके धर्म ग्रन्थ के बहुत से लेख संस्कृत भाषा समान बोले जाते हैं और जिनके विद्वान् उपदेशक इस समय बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रकाशित 'आर्य प्रकाश' नामी साप्ताहिक गुजराती पत्र में स्वयं लेख लिख चुके हैं, कि धार्मिक दृष्टि से पारसी मत के सिद्धान्तों का वैदिक धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध है और इस बात को यूरोप के सभी रिसर्च स्कालर वा पंडित समीक्षक भी मानते हैं, उन पारसी आर्यों में जो हवन की आग में सामग्री डाली जाती है, वह केवल सुगन्धित तथा रोग नाशक पदार्थ चन्दन और लोबान आदि हैं। कहीं भी उसमें किसी भी पशु का मांस नहीं डाला जाता।

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।

(यजु० अ० ३६ मं० १७)

इस मन्त्र में घी को हवन अग्नि की वृद्धि का कारण दर्शाया है। माँस आदि किसी भी अन्य पदार्थ को हवन की सामग्री में नहीं गिना। इङ्गलैंड के डाक्टर मुठ्ठु ने अपने रोग सम्बन्धी सुप्रसिद्ध नवीन ग्रंथ में जो कि भारत सरकार के सब हस्पतालों में रखा गया है सुश्रुत का नाम देकर उसके 'सुगन्धित धूप' का बड़े मान से वर्णन करते हुए उसको रोग जन्तु विनाशक माना है। सब ही जानते हैं कि यही धूप हवन सामग्री का भारी अंग है। अनेक मंत्र सुगन्धित धूप की महिमा बोधक दिये जा सकते हैं किन्तु यहां पर यजु० अ० ३३ मं० १ में जो (अर्चद्धूमासः) शब्द आए हैं उनके अर्थ 'सुगन्धित धूमों' के ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य में किये हैं। डा० मुठ्ठु के विशेष उद्धृत वाक्य पाठक 'संस्कार चन्द्रिका' ग्रंथ के 'तृतीय संस्करण में देख सकते हैं। यह नवीन संस्करण अनेक नये विषयों से पूर्ण है।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति ॥

(ऋ० मं० १ सू० १० मं० ४)

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा (यं) (यज्ञं) प्रथम मन्त्रोक्तम् (अध्वरं) 'हिंसाधर्मादि दोष रहितं'। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधो निपातः। निरुक्त, १-८'

आर्य्यभाषा पदार्थः—"(अग्ने) हे परमेश्वर आप (विश्वतः) सर्वत्र व्याप्त होकर (यं) जिस (अध्वरं) हिंसा आदि दोष रहित '(यज्ञं) विद्या आदि पदार्थों के दान रूप यज्ञ को, (परिभू) सब प्रकार से पालन करने वाले हो'।

(देखो ऋषि दयानन्दकृत भाष्य)

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो वह्निर्नमसा ।
अग्निं स्रुचो अध्वरेषु प्रयत्सु ।

(यजु० अ० २७ मं० १४)

इस में आए हुए 'अध्वरेषु' शब्द के अर्थ महर्षि दयानन्द इस प्रकार करते हैं, जिससे यज्ञ का स्वरूप हिंसा रहित होना साफ़ मालूम हो सकता है।

(अग्निम्) पावकम् (स्रुचः) होमसाधनानि (अध्वरेषु) अहिंसनीयेषु।'

ते अस्य योषणे दिव्ये न योना उषासानक्ता ।
इमं यज्ञमवतामध्वरं नः ।

(यजु० अ० २७ मं० १७)

इस मन्त्र में आए हुए 'अध्वरम्' शब्द के अर्थ ऋषि दयानन्दने फिर वही हिंसारहित के किये हैं। इससे भी यज्ञ का हिंसारहित होना सिद्ध है। उक्त तीन मन्त्रों पर विचार करने से यज्ञ का स्वरूप आप देख चुके अब आपके लिए 'वाचस्पत्य बृहदभिधान' नामी संस्कृत-कोष में से मेध तथा तादृश अर्थवान् शब्द संबंधी जो कुछ लिखा है, वह नीचे दिया जाता है। इस से पाठकों को ज्ञात हो सकेगा कि लौकिक संस्कृत में मेध शब्द, बुद्धि, आधार, तथा मारने, के अर्थों में प्रयुक्त दर्शाया है। फिर इसी कोष में गोमेध संबंधी लिखते हुए मेध के अर्थ आधार के सिद्ध कर दिखाते हैं और 'गोयज्ञ गा उद्दिश्य यज्ञः' अर्थात् गौओं के निमित्त किये जाने वाले यज्ञ के करते हैं और लिखते हैं:—

श्री कृष्णेन गोपानां हितार्थं वृन्दावने प्रवर्तिते गोवर्द्धनगिरि यज्ञसहिते गवां महोत्सवकारके। व्यापार भेदे"

इससे पाया गया कि 'गोमेध' के अर्थ गो निमित्त कार्य्य के हैं। अतः इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि 'अश्वमेध' के अर्थ घोड़ों के निमित्त कार्य्य के हो सकते हैं।

संस्कार विधि में ऋषि दयानन्द अन्त्येष्टि संस्कार अन्तर्गत लिखते हैं कि :—

"इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।" ऋषि वेदभाष्य में स्वयं मेध के अर्थ संगत के करते हैं इसलिए नर मेध के अर्थ नर व्यवस्था के हैं।

अब हम कह सकते हैं कि यज्ञ का स्वरूप इस प्रकार था।

१-वैदिक काल में, श्रेष्ठतम कर्मों का नाम यज्ञ था।

२-आर्षकाल में, जैसा कि निरुक्त का वचन है,

"यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु।"

वही श्रेष्ठतमकर्म तीन प्रकार से देवपूजा, संगतिकरण और दान में विभक्त किये गये और यही यज्ञ का स्वरूप हुआ और

३-स्मृति काल में पाँच प्रकार के महायज्ञों को विशेष रूप से यज्ञ सँज्ञा दी गई और वैदिक तथा आर्षकाल के सब शुभ कर्म भी यज्ञ संज्ञा के बराबर अधिकारी बने रहे। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ का नाम मानवधर्म शास्त्र में महायज्ञ है। इनमें से किसी भी महायज्ञ में हिंसा का विधान नहीं। स्मृतिकाल के पीछे वाम मार्ग ने हिंसा का प्रचार किया और उसका खंडन श्री बुद्ध देव ने किया। यजुर्वेद विशेष कर यज्ञ संबंधी वेद है इस लिए उसके निम्न मंत्रों का सार पाठकों के मनन के लिए प्रस्तुत करता हैं।

यजुर्वेद अ० १३ मं० ४८ में एक खुर वाले घोड़े आदि पशुओं को न मारने की ताकीद है। इसी अध्याय के मंत्र ४९ में गाय और बैल को न मारने की ताकीद है। फिर मन्त्र ५० में भेड़ और ऊंट को न मारने का उपदेश है। फिर मन्त्र ५१ में बकरा और मोर का

न मारने का आदेश है। मन्त्र ५२ में सब पशुओं की रक्षा द्वारा उन की वृद्धि करने की आज्ञा है।

जो लोग यह कहते हैं कि वैदिक काल में पहिले यज्ञों में पशु मारे जाते थे फिर बुद्धमत के प्रचार के पीछे नये मन्त्र हिंसा निषेधक घड़े गये वह भारी भूल करते हैं। उनको मालूम होना चाहिये कि:-

अग्ने यं यज्ञमध्वरं।

यह मन्त्र ऋग्वेद के आरम्भ होते ही 'चौथा है' इस पहिले सूक्त के ६ मन्त्र हैं। इन ६ मन्त्रों वाले प्रथम सूक्त का मन्त्र द्रष्टा ऋषि 'मधुच्छन्दा' है और सारे सूक्त का विषय वा देवता 'अग्नि' ही है। इस लिए आरम्भ के सूक्त में ही ४ थे मन्त्र में यज्ञ को अध्वर अर्थात् हिंसा रहित जब कहा गया, तो इससे वादी की यह शंका ठहर नहीं सकती कि पहिले पशु मार कर यज्ञ करते थे फिर अन्त को जाकर सुधार हुआ।

मेध शब्द के अर्थ Apte (आप्टे) कृत प्रसिद्ध अंगरेजी-संस्कृत कोष में यह भी दिये हुए हैं।

"An offering, 'भेट', an oblation, अर्घ"

इनके आधार से प्रसंग अनुसार 'मेध' शब्द के अर्थ भेट या चढ़ाने के हो सकते हैं। इस लिए जो लोग 'मेध' के अर्थ सर्वत्र मारना ही करने पर तुले हुए हैं वह सत्य के जिज्ञासु नहीं हो सकते,

यदूवध्यमुदरस्यापवातिय .... मेधं शृतपाकं पचन्तु ॥१०॥

(ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६२ मं० १०)

इस मन्त्र में आए हुए 'मेधम्' शब्द के अर्थ ऋषिदयानन्द निघंटु निरुक्त आदि अनुसार इस प्रकार करते हैं:—

"(मेधम्) संगतम्" (भाष्य पृ० ५४७) (भाषा अ०) (मेधम) व्यवस्था करना।

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति। ये चा-

वैतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ १२ ॥

(ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६२ मं० १२)

पदार्थः-" (ये) जो लोग (वाजिनम्) जिस में बहुत अन्नादि पदार्थ विद्यमान उस भोजन को (पक्वम्) पकाने से अच्छा बना हुआ (परिपश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं वा (ये) जो (ईम्) जल को पका (आहुः) कहते हैं (ये, च) और जो (अर्वतः) प्राप्त हुए प्राणी के (मांसभिक्षाम्) 'मांस के न प्राप्त होने को, ' (उतो) तर्क वितर्क से (उपासते) सेवन करते हैं (तेषाम्) उनका (अभिगूर्तिं) उद्यम और (सुरभि) सुगन्ध (नः) हम लोगों को (इन्वतु) व्याप्त वा प्राप्त हो। हे विद्वान् तू (इति) इस प्रकार अर्थात् मांस आदि अभक्ष्य के त्याग से रोगों को (निर्हर) निरन्तर दूर कर ॥' (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य, पृ० ५५०)

भावार्थः-" जो लोग अन्न और जल को शुद्ध करना, पकाना, उसका भोजन करना जानते और मांस को छोड़ कर भोजन करते हैं, वे उद्यमी होते हैं। " (देखो पृ० ५५०)

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि

उष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परिभूषयन्त्यश्वम् ॥

(ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६२ मं० १३)

पदार्थः-" (यत) जो (मांस्पचन्याः) मांसाहार जिसमें मांस पकाते हैं, उस (उखायाः) पाकसिद्ध करने वाली बटलोई का (नीक्षणम्) निरन्तर देखना करते उसमें वैमनस्य कर (या) जो (यूष्णः) रसके (आसेचनानि) अच्छे प्रकार सेचन के आधार वा (पात्राणि) पात्र वा (उष्मण्या) गरम पन उत्तम पदार्थ (अपिधाना) बटलोइयों के मुख ढांपने की ढकनियां (चरूणाम्) अन्न आदि के पकाने के आधार बटलोई कड़ाही आदि बर्त्तनों के (अङ्काः) लक्षण हैं, उनको अच्छे जानते और (अश्वम्) घोड़ों को (परि-

भूषयन्ति) सुशोभित करते हैं वे (सूनाः) प्रत्येक काम में प्रेरित होते हैं"। (ऋषि दयानन्द कृत भाष्य पृ० ५५२)

भावार्थः-" जो मनुष्य मांस आदि के पकाने के दोष से रहित, बटलोई के धरने जल आदि उसमें छोड़ने, अग्नि को जलाने और उसको ढकनों से ढांपने को जानते हैं, वे पाक विद्या में कुशल होते हैं। जो घोड़े को अच्छा सिखा उनको सुशोभित कर चलाते हैं, वे सुख से मार्ग को जाते हैं।' देखो उक्त भाष्य पृ० ५५२)

पशु पशुबलि के साथ मांस भक्षण का संबंध निकल हो [illegible] । इस लिए जो विदेशीय विद्वान् आशंका किया करते हैं [illegible] क आदर्श भोजन वैदिक काल में मांस भक्षण करना [illegible] पशु वध बलि देना था वह ध्यान पूर्वक उक्त दो मन्त्रों के भाष्य । पढ़ें। इनसे प्रत्येक जिज्ञासु जान सकता है कि वैदिक आर्य्यों का आदर्श भोजन मांस न था। हम इस विषय को विस्तार भय से अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझते, पूर्ण आशा है कि जिज्ञासुजन इस तुच्छ लेख को देख 'महर्षि दयानन्द कृत गोकरुणानिधि,' 'सत्यार्थ प्रकाश स० १०,' तथा 'वेद भाष्य' को पढ़ इस बात का निश्चय स्वयं कर सकेंगे कि वैदिक काल में आर्य्यों के यज्ञ तथा भोजन हिंसा रहित होते थे।

कर्म दो प्रकार के हैं भले और बुरे। श्रेष्ठ और पापमय। हिंसा चोरी आदि पाप संज्ञक कर्म हैं। हवन यज्ञ, दान, संस्कार जो (हिंसा) चोरी आदि से रहित हैं ऐसे उत्तम कर्म हैं जिन का फल बंधन रूप कभी नहीं हो सकता। यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र २ में कहा गया है कि मनुष्य को वेद में कहे हुए यज्ञ, याग, दान आदि सर्व कर्म करने का फल उस को बन्धन वा दुःख में कभी नहीं डालेगा। इस से सिद्ध हुआ कि वैदिक यज्ञ हिंसा चोरी आदि प्रत्यक्ष दुष्ट कर्मों से रहित हैं।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ।

अथर्व वेद काण्ड ८ सूक्त १० मन्त्र ३

अर्थ -जो ऐसा जानता है वह गृह मेधी गृहपति होता है। ऋषि दयानन्द ने अथर्व वेद का भाष्य नहीं किया पर ऋग्वेद के भाष्य में जैसा ऊपर लिख आए हैं उन्होंने मेध्यम् के अर्थ ।

" संगतम्

के संस्कृत में किये हैं। संगतम् के नागरी भाषा में अर्थ संगठन वा व्यवस्था करने के हैं। इसलिए उक्त अथर्व वेद मन्त्र के अर्थ भाषा में इस प्रकार समझने चाहिये ।

अर्थ- जो ऐसा जानता है वह घर की व्यवस्था करने वाला, घर का रक्षक, मालिक और स्वामी बना रहता है।

अहिंसा धर्म प्रकाश नामी उत्तम गुजराती लघु पुस्तक महाशय बी० बा० गवास्कर

कालबा देवी पोस्ट कनतनो चाल 'बम्बई'

से मिल सकती है। इसके एक उत्तम गुजराती लेखका नागरी भाषा में सार इस प्रकार है। ऋग्वेद के ऐ० ब्राह्मण के लेख से यह दिखाना चाहते हैं कि उसमें यज्ञ समय पर पशु को स्पर्श करके छोड़ देने का वर्णन है मारने का नहीं। इस ऐ० ब्राह्मण के लेख की भाषा यह है कि मनुष्य पशु आदि प्राणी 'अमेध्य' अर्थात् अपवित्र हैं। उनको स्पर्श करके छोड़ देवे और तीन वर्ष के पुराने शाली (चावल) का भात जो मेध्य हवनार्थ पशु उसके भात से वा आटे से यजन करना।

(प्रश्न) नर मेध शब्द संस्कार विधि में आया है-इसका मतलब क्या है ?

(उत्तर) ऊपर ऋ० मं० १ अ० २२ सू० १६२ मं० १० के भाष्य में ऋषिदयानन्द ने [मेधम्] शब्द के अर्थ [संगतम्] के किये हैं।

संगतम् के अर्थ भाषा में प्राप्त अथवा व्यवस्था के हैं। इस लिए नर मेध के अर्थ ऋषिभाष्य के आधार से हम 'नरसम्बन्धी व्यवस्था' करेंगे। यह अर्थ जहां युक्त हैं वहां पण्डितों को भी मान्य हो सकते हैं, कारण कि उस ऋषि ने किये हैं जो एक तरफ़ तो व्याकरण शास्त्र का सागर था और दूसरी तरफ़ पूर्ण योग दृष्टि से युक्त था।

मांसं माननं, मानसं वा, मनो ऽस्मिन् सीदतीति वा।

[देखो निरुक्त]

(१) मांसं-"मांस के अर्थ क्या हैं ?

मान्य अर्थात् प्रतिष्ठित पुरुष के लिए जो लाया जाता है वह मांस कहलाता है।

(२) मानसं-जो शुभ मन से लाया जाता है उसका नाम भी मांस है।

(३) जिसमें मन खिंचता है अर्थात् रोचक भोजन

यजुर्वेद अ० २० मं० ७८ में "आहुता" शब्द आया है, उस के अर्थ ऋषि दयानन्द वेद भाष्य में

"सब ओर से ग्रहण किये हुए"

इस प्रकार करते है। यह अर्थ बहुत उत्तम हैं। हु धातु दान अर्थ में आता है-इसलिए आहुता के अर्थ उसके धातु अनुसार हैं। विद्वद्वर्य पं० श्री गंगाप्रसाद जी एम० ए० (जज टिहरी राज्य) ने एक लेख में इस प्रकार के शब्द के ऐसे ही उत्तम अर्थ उसके धातु पर से किये थे।

आप्टे कृत संस्कृत अंग्रेज़ी कोष के पृ० २५४ पर 'उक्षा' शब्द के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं। (१) बैल वा सांड, कहीं कहीं उक्ष पाठ मिलता है। (२) "सोम की एक पत्नी है" (३) "आठ मुख्य औषधियों में से एक औषधि (ऋषभ औषधि वर्ग की)"

अतः इस कोषकारने भी केवल बैल वा सांड अर्थ ही नहीं

किये किन्तु ऋषभ वर्ग की आठ औषधियों में से एक औषधि का नाम है। स्व० पं० सीताराम शास्त्री वैद्य रावलपिण्डी ऋषभ के अर्थ सालब मिश्री जड़ी और उक्षा के अर्थ मूसली औषधि के करते थे। वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में औषधि अर्थों में उक्त शब्द आए हैं

अथर्व वेद के अनेक मन्त्रों में मांस-ओदन बनाकर अतिथि को खिलाने का वर्णन है। इसके सच्चे अर्थ रोचक भात के हैं। अब भी भारतीय आर्य गृहों में मान्य अतिथि के आनेपर दूध चावल जिसको उत्तर हिन्द में खीर और गुजरात में दूध पाक कहते हैं बनाया जाता है। श्राद्धों के दिनों में प्रत्येक सनातन धर्मी आर्य गृह के अन्दर ब्राह्मणों को बड़े मान से यही खीर का भोजन खिलाता है। वैदिक काल में इसी का नाम

मांस ओदन

अर्थात् रोचक वा स्वादिष्ट भोजन था।

मांस तथा मदिरा दोनों ही वर्जित पदार्थ हैं, इस तत्व को अथर्ववेद का निम्न मन्त्र दर्शा रहा है:—

यथ मांसं यथा सुरा।

इस के अतिरिक्त अथर्ववेद का निम्न मन्त्र मांस भक्षण तथा अण्डा भक्षण का निषेध कर रहा है।

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं चये क्रविः।

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

अर्थ— जो कच्चे मांस को खाता है अथवा किसी से पकवा (बनवा) कर खाता है और जो अण्डे खाता है, राजा उन को यहां से दूर हटाने का दण्ड देवे। अण्डे रोग उत्पादक हैं यह तत्व अब भोजन शास्त्री जान चुके हैं यथा:—

"The shell of the egg is porous and consequently will permit the entrance of disease and other

putrefactive germs. And thus this food may be made unfit for human consumption in a comparatively short time." (Lessons on Food.)

" ...... Invariably brings about a large rise in the excretion of uric acid and all the evil effects of its passage through the blood so that I have had to exclude the eggs entirely from my diet".

[Alexander Haigs' Theory and Dietary.]

अर्थ—"अण्डे का छिलका छिद्रमय होता है और इसी लिए रोग तथा अन्य सड़ांद के जन्तु उस में प्रवेश कर जाते हैं। और इसी कारण यह भोजन बहुत थोड़े काल ही में मनुष्य के लिए अभक्ष्य हो जाता है' देखो पुस्तक 'लेसन्स ओन फुड' बड़ौदा सरकारी पुस्तक विक्रेता से प्राप्त।

अर्थ—" अण्डों का सेवन सदैव मूत्र तेजाब उत्पन्न करने के अतिरिक्त सर्व विकारों का दाता है जो लोहू से सम्बन्ध रखते हैं - इसलिए मुझे अण्डों को अपने आहार से सर्वथा बाहर करना पड़ा।"

(देखो पुस्तक एलैक्ज़ैन्डर हैगस् थियरी एण्ड डाइटरी)

जिस प्रकार कई रक्त विकारी भोजन वा पदार्थ हैं उसी प्रकार अण्डे भी हैं। अण्डे खाने वालों को फोड़े फुन्सियां सदैव निकलते रहते हैं, यह बात तो प्रत्येक जन जो वैद्य वा डाक्टर नहीं जानता ही है—इस के अतिरिक्त अण्डों के खाने से शरीर में रोग जन्तु शीघ्र प्रवेश कर सकते हैं, कारण कि इनका छिलका छिद्रमय होता है यह बात सर्वथा सत्य है। एक अन्य डाक्टर का मत है जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं कि अण्डे खाने से मूत्र तेजाब तथा रक्त विकार के रोग होते हैं। धन्य थे वह भारतीय आर्य ऋषि जिन्हों ने वेद के उक्त मंत्र पर चल कर अण्डों का खाना आर्य्य घरों में प्रवेश नहीं होने दिया। अण्डों के खाने वाला उसी प्रकार सूक्ष्म - हिंसा दोष का भी भागी होता है जैसे कि गर्भ गिराने वा नष्ट करने वाला।

ओ३म्

वेद का रहस्य

वेद में यम का स्वरूप

(श्री पण्डित रामगोपाल शास्त्री, लाहौर)

वेद संसार में सब से प्राचीन ग्रन्थ है यह सर्वतन्त्र सिद्धाँत है, सामयिक लेखक जो वेद का इस प्रकार काल निश्चित करते हैं यह केवल उनका साहस मात्र है। जब मनुष्य उत्पन्न हुआ साथ ही ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब से लेकर आज तक गुरुशिष्य परम्परा से जो ज्ञान चला आ रहा है वही वेद है। जितना काल सामयिक विद्वान् वेदोत्पत्ति का बताते हैं हमारी सम्मति में उतना काल तो वेदार्थों को भूले हुए हो चुका है। अबतक भी वेद के मर्म नहीं खुले। कहीं २ विद्वानों ने कुछ रहस्य खोले हैं पर यह काम समुद्र में एक बिन्दु की न्याईं हुआ है। वेद के आलङ्कारिक अर्थों को लोग सर्वथा भूल चुके हैं। ज्यों २ प्राचीन साहित्य उपलब्ध हो रहा है त्यों २ वेदों का अर्थ खुल रहा है।

यम पद का अर्थ — वेद के सहस्रों पदों का अनर्थ करके जगत् में अनेक कल्पित कथा चली हैं। उन सबका यहां वर्णन करना कठिन है। अब हम पाठकों के सन्मुख केवल 'यम' पद रखते हैं जिसके सम्बन्ध में हम बतायेंगे कि इस यम के सम्बन्ध में कितनी निर्मूल बातें संसार में फैली हुई हैं। इस एक पद के ठीक अर्थ खुलने से ही आपको निश्चय करना चाहिए कि वेद का रहस्य अभी तक कितना छुपा हुआ है और लोग वेद के क्या २ अनर्थ करते हैं।

यम पद 'यमु उपरमे' धातु से बना है। निरुक्तकार यास्क भी यम का अर्थ करते हैं 'यच्छतीति सतः' जो रोकता है वह यम है। मूल में इस अर्थ को लक्ष्य में रखकर वेद में यम के अनेक अर्थ होते हैं। प्रजा को पाप से रोकने से राजा भी यम है। कई अंग्रेज़ विद्वानों का यह मत है कि वेद में एक पद का एक ही अर्थ है उनका ऐसा लिखना उनकी वेद में अनभिज्ञता सिद्ध करता है। वेद में गौ पद के पृथिवी, धेनु, सूर्य रश्मि आदि अनेक अर्थ किये हैं, इसके लिए देखो निरुक्त अ० २ पा० २।

इसी प्रकार बहुत स्थानों में प्रकरण भेद से एक पद के अनेकार्थ आते हैं और ऐसा संसार की सब भाषाओं में पाया जाता है। इसी प्रकार यम के भी ये अर्थ हैं–' षडिद्यमा ' ऋ० १।१६४। १५। यहां यम का अर्थ है ऋतु। 'वाजिना यमम्' ऋ० २।५।१। यहां परमेश्वर अर्थ। 'यमः सूयमानः' य० ८। ५७। यहां अग्नि अर्थ है। 'यमं मातरिश्वानम्' ऋ० १।१६।४६। यहाँ परमेश्वर अर्थ है। (सं० वि० पृ० २६८)। 'यमं राजानम' ऋ० १०। १४। १ यहां मृत्यु अर्थ है। 'यमस्य माता' ऋ० १०। १७। १। यहां यम का अर्थ युगल (जोड़ा) है। इस प्रकार के वेद में अनेक मंत्र हैं जहाँ यम के अनेकार्थ हैं। परञ्च इस लेख में हमको पाठकों को यम का स्वरूप दिखलाना है अतः यहां हमें 'यमं राजानं हविषा' ऋ० १०। १४। १। यह मंत्र ग्राह्य है। इस मंत्र में यम का अर्थ मृत्यु है और इसी यमको विवस्वान् का पुत्र, पितरों का अधिपति, दक्षिण दिशा का स्वामी, चतुरक्ष, श्वान रूप दूतों का रक्षक माना है। यम के साथ इन बातों का क्या सम्बन्ध है इसी विषय को हम यहां क्रमशः खोलेंगे :—

विवस्वान् का पुत्र यम — वेद में यम को विवस्वान् का पुत्र लिखा है। 'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमम्'। ऋ० १०। १४। १।, 'यत्ते यमं वैवस्वतं' ऋ० १०। ५८। १, यमादहं वैवस्वतात्।

ऋ० १० । ६० । १० । इस प्रकार के अनेक मन्त्रों में यम को वैवस्वत अर्थात् विवस्वान् का पुत्र माना है।

विवस्वान् कौन है — विवस्वान् के भी वेद में अनेक अर्थ हैं पर यहाँ यम (मृत्यु, काल) का पिता विवस्वान् 'सूर्य्य' है। विवस्वान् सूर्य्यार्थ में यजुर्वेद ८। ५। " विवस्वन्नादित्यैष ते "। में आया है। यम (काल) का पिता सूर्य्य का होना सुसङ्गत भी है। क्योंकि यद्यपि काल नित्य है पर तो भी क्षण, पल आदि व्यवहार योग्य काल का उत्पादक सूर्य ही है अतः "वैवस्वत यम" इसी मृत्यु अथवा काल को कहते हैं।

ब्राह्मण तथा उपनिषद् के यम का निर्णय — ऊपर वेद में वैवस्वत यम मृत्यु (काल) के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है यह हम ने सिद्ध किया है। पर तैत्तिरीय ब्राह्मण और कठोपनिषद् में आये हुए यम पद पर बहुत विवाद है अतः प्रमाणों सहित उसका वर्णन करना भी आवश्यक है। आर्ष साहित्य में यम और नचिकेता का संवाद बड़ा प्रसिद्ध है। इस संवाद का मूल तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ११। ८ में आता है और इसी के आधार से कठोपनिषद् में इस कथा का विस्तार किया गया है। इस कथा में जो यम है उसे भी वैवस्वत यम ही कहा है देखो " हर वैवस्वतोऽहम् " कठ० उ० १। १। इस कथा में दो मत हैं। एक पक्ष तो यह कहता है कि यम और नचिकेता दो मानव देह धारी जीव थे, दूसरा पक्ष है कि यह वर्णन आलङ्कारिक है और यम यहां कोई मनुष्य नहीं प्रत्युत मृत्यु का पर्य्याय है। हमारी सम्मति में दूसरा पक्ष ठीक है क्योंकि इसी प्रकरण कठ० उ० १। १। २६ में यम के लिए 'अन्तक' पद आया है और वह मृत्यु का वाचक है। " न तत्र त्वं न जरया बिभेति " कठ० उ० १। १। १२ इस मंत्र में यम को नचिकेता कहता है कि स्वर्ग लोक में न तो 'तू' है और न बुढ़ापे का डर है। इस प्रकरण में त्वं अर्थात् तू स्वर्ग में नहीं यह पद सिद्ध करता है कि यम का

अर्थ यहां मृत्यु है। एक स्थान पर क०ठ० उ० १। २। ६ में यम स्वयं कहता है कि " पुनः पुनर्वशमापद्यते मे " यानी मनुष्य बार २ मेरे फन्दे में आता है जो इस लोक को मानता है परलोक को नहीं। इससे यम का अर्थ मृत्यु यहां सर्वथा स्पष्ट है। वेद में जो वैवस्वत यम मृत्यु के अर्थ में आया है उसी का ही वर्णन इस ब्राह्मण और उपनिषद् में है।

यम और पितर } जब कभी हम वैदिक और लौकिक साहित्य पढ़ते हैं तो यम का पितरों से बड़ा घना सम्बन्ध आता है। ये पितर कौन हैं, इन का यम के साथ क्या सम्बन्ध है इस विषय में बड़े मत भेद हैं। इस विषय में हम कुछ निर्णय प्रकट करना चाहते हैं। वैदिक साहित्य में पितरों की दक्षिण दिशा, पितृयान, कृष्णपक्ष, अपराह्न काल तथा यम के आधीन होना लिखा है। 'यमेन त्वं पितृभि'। अथर्व ६। ६३। ३। इस मंत्र में यम का पितरों से सम्बन्ध और " यमः पितृणामधिपतिः " इस मन्त्र में यम का पितरों का अधिपति होना सिद्ध है। यम का पितरों से सम्बन्ध सिद्ध करने से पूर्व हमें पितर का अर्थ करना अत्यन्त आवश्यक है।

पितर का अर्थ } मौलिक रूप से पितर का अर्थ रक्षक है पर यह पद वेद में दादा, परदादा आदि बड़े, ज्ञानी, रक्षक, सूर्य रश्मि, ऋतु तथा मण्डूक आदि अर्थों में आया है। इस प्रकरण में पितर के अर्थ उन ज्ञानी पुरुषों के हैं जो कर्मकाण्डी याज्ञिक लोग हैं। उन कर्म काण्डियों और ज्ञान काण्डियों की शास्त्र में दो प्रकार की गति कही गई है। ऋग्वेद १०। ८८। १५ में पितरों और देवों के दो मार्ग लिखे हैं। पितरों का मार्ग पितृयान है जो कि लोक लोकान्तरों के सुखोपभोग कराके फिर इस मर्त्य लोक में वापिस लाता है। देवयान अर्थात् निष्काम कर्म करने वाले ज्ञानियों के मार्ग से फिर इस जन्म मरण के बन्धन में नहीं आना पड़ता। सारांश यह है कि कर्मकाण्डियों की गति निष्काम कर्म कर्त्ता ज्ञानियों की अपेक्षा कृष्ण

है और छोटी है। इसी वास्ते पितरों का सम्बन्ध अपराह्न काल, धूम, रात्रि, तथा कृष्ण पक्ष से है। देवों की गति बढ़िया और शुक्ल है। इस वास्ते उनका सम्बन्ध ज्योति, दिन तथा शुक्ल पक्ष से वर्णन किया गया है। इन्हीं पितरों और देवों के दो अयन माने हैं। पितरों का दक्षिणायन और देवों का उत्तरायण है। उनकी गति का विशेष वर्णन प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार है।

"संवत्सरो वै प्रजापतिः तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते एष ह वै रयिः यः पितृयानः। ९। अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते ॥ १० ॥ प्र० उ० प्र० १ ॥

इससे स्पष्ट रूप से पितृयान और देवयान का वर्णन कर दिया है। इसी प्रकार का वर्णन छान्दो० उ० ५।१०, बृ० उ० ६। २। २, १५, १६, । वेदां० द० ३। १, ४। २. ४।३।गी० गीता ८।२४,२६ में आया है। इसमें पितरों के यान को दक्षिणायन देवों के यान को उत्तरायण भी सिद्ध किया है।

अयनों का वर्णन — सावन से लेकर पौष तक दक्षिणायन और माघ से आषाढ़ तक उत्तरायण काल है। ये दो विभाग सूर्य की रश्मियों की दक्षिण और उत्तर दिशा की गति के कारण हैं। इन अयनों में दक्षिणायन का सम्बन्ध पितरों से है। यह ऊपर बता दिया है कि पितर नाम याज्ञिकों का है। याज्ञिक लोगों ने यह काल इसलिए चुना था कि इसी में वृष्टि आदि के द्वारा सब प्रकार की

हवि योग्य वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। यजुर्वेद ३१।१४ में शरद्धविः, ऋतु को हविरूप वर्णन किया गया है। यह ऋतु भी इस दक्षिणायन काल में ही होती है यह अयन जो पितरयान के नाम से प्रसिद्ध है वह मृत्युयान के नाम से भी प्रसिद्ध है, देखो ऋ० १०।१८।१। यह पितृयान इसलिए मृत्युयान कहाता है कि इस यान के द्वारा गति वाले जीव मौत के फन्दे से नहीं निकल सकता। जैमिनीय ब्राह्मण १।१२ में इस अग्नि को मृत्यु कहा है 'योह स मृत्युः अग्निरेव सः' 'अग्नि वाव यमः' गो०ब्रा०४।६ 'अग्निर्वै यमः' श० ब्रा० ७।२।१।१० इन वाक्यों का रहस्य भी यही है कि इस अग्नि द्वारा कर्म करने वाले याज्ञिक मृत्यु के मुख में हैं उससे बाहर नहीं। यह वर्णन ऊपर प्रश्नोपनिषद् में भी कर दिया है। इस वास्ते पितृयान मृत्यु मार्ग है।

पितरों का यम से सम्बन्ध — काठक संहिता में ३८।१२ मंत्र आया है जिस में यम को राजा और मनुष्य, पशु आदि से तृप्त होने वाला लिखा है। पितर जो कि याज्ञिक हैं यद्यपि वे साधारण लोगों की अपेक्षा बहुत उच्च हैं तथापि 'यम' मृत्यु के ही राज्य में रहते हैं क्यों कि इतना कर्मकाण्ड करते हुए भी वे मृत्यु के मुख से नहीं निकलते।

पितरों की दक्षिण दिशा — एषा वै दिक् पितॄणाम् ।श०ब्रा०१३।४।११, दक्षिण प्रवणो वै पितृलोकः। श०ब्रा०१३। इन स्थलों में पितरों की दिशा दक्षिण सिद्ध है। इसका भी सम्बन्ध इसीलिए है कि जो दक्षिण की ओर सूर्य की रश्मियों की गति है उसे ही दक्षिणायन माना है और दक्षिण की ओर सूर्य गति के कारण ही कर्मकाण्डी पितरों की भी दक्षिण दिशा ही मानी है।

पौराणिक यम — ऊपर हमने वेद में उसका वर्णन कर दिया है जिसे यम कहते हैं। यम (मृत्यु) विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है और सब प्राणियों का अधिपति है। पुराणों में जिस यम का वर्णन है

यह वेद से सर्वथा भिन्न है। गरुड़ पुराण प्रेत खण्ड अ० ५ श्लो० १४५, १४६ में यम की एक नगरी लिखी है जिसका विस्तार ४४ योजन है। उसमें १३ द्वारपाल हैं उसमें प्रवेश करके जीव बड़े भयङ्कर स्वरूप यम के दर्शन करता है। इस गरुड़ पुराण में जिस यम का वर्णन है उसे भी श्लोक ८१ और ८२ में विवस्वान् का पुत्र ही लिखा है। इस पुराण में यम मृत्यु, और अन्तक को भिन्न २ माना है, वेद में न तो कोई यमपुरी है और नहीं ये भिन्न हैं प्रत्युत अथर्व ८।१।१ और अथर्व ८।८।११ में मृत्यु अन्तक आदि सब एक ही के नाम हैं भिन्न नहीं।

भिन्न मतों में मृत्यु का देवता — यूनानियों में Hades नरक लोक का स्वामी Pluto प्लूटो माना है। मुसलमान इज़राईल को मृत्यु देवता मानते हैं। प्राचीन पारसी उस देवता को मुर्दीद कहते थे। यहूदी लोग डयूमा Deuma को मृत्यु का फ़रिश्ता मानते हैं। ज़न्द अवस्ता के धर्मानुयायी भी यम मृत्यु देवता मानते हैं। उनके यहां इसे विवन्हओ यिम (Vevanhoo yim) माना है। ज़न्द का विवन्हओ पद वैवस्वत का और यिम यम का अपभ्रंश है। उनके यहां यम की कथा इस प्रकार है-अहुरमज़दा (पारसियों का परमेश्वर) ने यिम को एक सुनहरी तलवार और जड़ाऊ अंकुश दिया जो कि यिम के राजा होने का चिन्ह है। एक जगह ज़न्द में यिम का विशेषण Khshaeta क्षयेता आया है जिसका अर्थ है राजा। और इसे वहां पशुओं और मनुष्यों का इकट्ठा करने वाला लिखा है। वेद में भी यम को राजा और जनों का इकट्ठा करने वाला लिखा है।

यम दूतों का वर्णन — यम का वर्णन जहाँ वेद में आता है साथ इसके दो दूतों का वर्णन आता है जो कि दो कुत्ते हैं और जिनकी चार २ आंखे हैं, जिनमें एक का रंग काला और दूसरे का चितकबरा लिखा है। इन दो श्वानों की माता सरमा है और यह मनुष्यों के हर समय

पीछे चलते हैं, रास्ते में बैठते हैं। इनका वर्णन वेदों में आता है। देखो ऋ० १०। १४॥

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।, १० ॥ यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ॥ ११ ॥ श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अथर्व ८। १। ९॥

ऊपर जो वर्णन हम ने इन दो कुत्तों का किया है वह इन मंत्रों में मिलता है। इनका विस्तार हम आगे करेंगे।

मुसलमानी दूत } यह ऊपर लिखा जा चुका है कि मुसलमानों में इज़राईल मृत्यु देवता है। उस के साथ उन्हों ने दो सहायक फ़रिश्ते माने हैं जिनके नाम 'मुनकिर' और 'नकीर' हैं। इन दोनों का रंग वहां काला लिखा हुआ है। मुसलमानों में जब शव दबाया जाता है तो उनका विचार है कि मुनकिर पापियों को नरक के घोर दुःखों को सुनाता है और नकीर धर्मात्मा मुसलमानों को स्वर्ग के हर्ष समाचार सुनाता है।

ज़न्दाबस्ता में यम दूत } पारसी धर्म में विवन्हओ यिम नामक जो मृत्यु देवता लिखा है उसके भी दो कुत्ते दूत माने हैं, उन्हों ने भी इनको चार २ आंखें और Yellow (पीला) रंग माना है। उनका विचार है कि मृत्यु के अन्तर प्राणी को चिनवत नामक पुल पार करना पड़ता है। यह दोनों मिहिर और सरोश नाम वाले कुत्ते पुल पर खड़े रहते हैं, इनमें एक धार्मिक प्राणियों को स्वर्ग में भेजता है और दूसरा नरक में।

तुलना दृष्टि से पढ़ने में हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि किस तरह वेदेतर मत वालों में अभी तक भी अपभ्रंश रूप में वेद की ये गाथाएं पाई जाती हैं। उन मतों के मानने वाले भी इन बातों

का निर्णय नहीं कर सके पर जैसे तैसे वेद के टूटे फूटे विचार मिले उन्होंने अपने ग्रन्थों में रख दिये।

इन दो कुत्तों का निर्णय — इन कुत्तों का निर्णय करने से पूर्व हमें प्रथम इन की माता सरमा का निर्णय करना चाहिये। सरमा का काम वेद में इन्द्र की पणि राक्षस द्वारा छिपाई हुई गौओं का पता लगाना है, देखो ऋग्वेद १०। १०८ सूक्त। वेदों में बहुत से प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अलङ्कार से आता है। जिन अलङ्कारों को न समझने से साधारण लोगों ने अनेक ऐतिहासिक कथाएं वेद से निकाली हैं। इस सूक्त में भी सरमा का जो कि 'उषा' है अलङ्कार रूप से वर्णन है। ऋग्वेद में इन्द्र का अर्थ सूर्य आता है। पणि वृत्र मेघ वा आवरक अन्धकार का नाम है। गौएं सूर्य की किरणें हैं। रात्रि काल में अन्धकार सूर्य किरणों को अपने अन्दर छिपा लेता है तो प्रातः काल उषा (सरमा) इन छिपी हुई रश्मियों का सन्देश इन्द्र (सूर्य) को देती है। सरमा यहाँ उषा है। यूनानी साहित्य में इस उषा को Harema हेरमा कहते हैं। यूनानी, पहलवी आदि भाषाओं में उन शब्दों में जो संस्कृत भण्डार से लिये गये हैं संस्कृत के सकार के स्थान में हकार का उच्चारण करते हैं। ज़न्द में सेना को हेना, असुर को अहुर, मास को माह आदि लिखा है। इसी प्रकार संस्कृत की सरमा को यूनानी साहित्य में हेरमा लिखा गया है। सरमा का जिस प्रकार का अलङ्कार ऋ० में आता है इसी प्रकार की कथा कुछ भेद से यूनानी साहित्य में भी पाई जाती है। उसमें भी हिरेकलीस की गौएं जरियन (Geryon) ने चुराई ऐसा लिखा है। यूनानी साहित्य में हिरेकलीस के वही बलवत् कर्त्तव्य हैं जो वैदिक साहित्य में इन्द्र के हैं। जरियन उनके यहां एक अजगर माना गया है जिसका इन्द्र के साथ युद्ध होता है। मार्मिक दृष्टि से विचार करें तो यह भी इन्द्र और वृत्र के युद्ध का वर्णन ही है और कुछ नहीं।

भ्रम यहां आकर पड़ा कि वैदिक वृत्र (मेघ) का दूसरा नाम वेद में अहि है। अहि लौकिक संस्कृत में सांप कहाता है। केवल इस भेद के न जानने से ये भ्रम हुए हैं । इस अहि को ज़न्द में अजि और फ़ारसी में अफ़ई कहा है। अञ्जील और कुरान में जो खुदा का शैतान से झगड़ा है वह भी इन्द्र अहि युद्ध ही है। इसीलिए शैतान को अदन के बाग़ में जाने के वक्त सांप की आकृति वाला लिखा है। वास्तव में सब में मौलिक भूल इसी बात पर हुई है कि अहि के वास्तविक अर्थ नहीं जाने गये। इसी प्रकरण में ऊपर यूनानी कथा से भी यही सिद्ध होता है कि हिरेकलोस की गौओं को जरियन चुराता है। उस चुराई हुई गौओं का पता लाना हरेमा (सरमा) का काम है। युनानियों में Harema हरेमा को (Dawn) 'उषा' माना गया है। अब इस तुलनात्मक विचार से आप जान सकते हैं कि क्या सरमा उषा ही है वा कोई कुतिया है। वैदिक विचारों में जो इसे उषा कहा गया है वह सर्वथा ठीक है।

दो कुत्तों का निर्णय } सरमा का जो निर्णय किया है वह केवल इसलिए किया है कि सरमा के पुत्र दो श्वानों का रहस्य हमें खोलना है। सरमा जब उषा सिद्ध है तो उसके पुत्र सारमेय भी कोई दो प्राकृतिक पदार्थ होने चाहिएं साधारण कुत्ते नहीं। इस विचारावसर में हम पाठकों को बताना चाहते हैं कि ये दो कुत्ते 'रात और दिन हैं'। ऊपर यह तो बता ही दिया है कि इन दो श्वानों में एक काला है और दूसरा चितकबरा। काले से यहां रात और चितकबरे से दिन का निर्देश है। ये दिन और रात रूप जो दो कुत्ते हमने बताये हैं इस अर्थ में हमारी निजू कल्पना बिलकुल नहीं है। हम आपके सम्मुख शास्त्रीय प्रमाण रखते हैं।

"अथ ह एतौ श्यामशबलावेव यदहोरात्रे अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः"।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।६।

अर्थ-ये जो श्याम शबल हैं वे दिन और रात्रि ही हैं। दिन शबल और रात्रि श्याम है। इसी बात को कौषीतकी ब्राह्मण ने भी पुष्ट किया है :—

" अथो योऽतोऽन्यथाग्निहोत्रं जुहोति श्यामशबलौ हास्याग्निहोत्रं विखिदतोऽहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः "। २।९॥

अर्थ-जो इससे विरुद्ध अग्निहोत्र करता है श्याम और शबल उसके अग्निहोत्र को नष्ट करते हैं। दिन ही शबल और रात्रि श्याम है। कौषीतकी ब्राह्मण में दिन और रात को मृत्यु की बलवती भुजाएं लिखा है।

मृत्योर्वा एतौ व्राजबाहू यदहोरात्रे। कौ० ब्रा० २।९॥

इसी प्रकार का वर्णन वात्स्यायन भाष्य में आया है। काठक संहिता में तो स्पष्टरूप से दिन और रात को यम का कुत्ता लिखा है।

" एतौ वै यमश्वा अहश्च रात्री च ता इदं मनुष्याम् वृज्जानौ।"

का० सं० स्थानक ३७ खं० १४।

ये जो दो यम के कुत्ते हैं वे दिन और रात हैं, वे दोनों इस जगत् और मनुष्यों को काटते (अर्थात् नाश) करते हैं। इन प्रमाणों से अब सर्वथा स्पष्ट हो गया है कि यम के दो दूत कुत्ते कोई साधारण कुत्ते नहीं प्रत्युत दिन और रात हैं। परञ्च शास्त्रीय मर्म के जाने बिना सब लोग आज तक कुत्तों को यम का दूत गिनते हैं। जब कभी कोई कुत्ता किसी विशेष प्रकार से चीखता है तो लोग कहते हैं कि इसे यम दूत दिखाई देते हैं अतः यहां किसी की मौत होने वाली है। पारसी भी मरणासन्न मनुष्य को कुत्ता दिखाते हैं। ये सब बातें वैदिक रहस्यों के भूल जाने से हुई हैं। दिन और रात को कुत्तों से उपमा क्यों दी गई इस रहस्य को काठक संहिता ने

ऊपर खोल दिया कि ये दोनों सब संसार की आयु को काट रहे हैं। इनकी माता (सरमा=उषा) भी इसीलिए कुतिया से उपमित की गई कि वह भी सारे जगत् की आयु को काट रही है। दूसरा हेतु कुत्ते से उपमा देने का यहां यह भी है कि जिस प्रकार एक कुत्ता अपने भाई कुत्ते को नहीं देख सकता इसी प्रकार दोनों भाई होते हुए भी दिन और रात एक दूसरे से नहीं मिलते। दिन और रात को असुतृप कहा है क्योंकि ये प्राणियों के प्राणों से तृप्त होते हैं। ये मार्ग में बैठने वाले हैं, इसका तात्पर्य्य यह है कि जो भी प्राणी मरता है वह या तो रात्रि से गुजर कर आता है या दिन से। इस बात को न जान कर मुसलमान और पारसियों ने एक पुल मान कर ये कुत्ते उसके द्वारपाल बताए हैं। इन दोनों को वेद और जन्द में "चतुरक्षौ" चार २ आंखों वाला लिखा है, इसका तात्पर्य्य यह है कि जो दिन के चार प्रहर हैं वे दिन की आंखें हैं और रात्रि के चार प्रहर रात की चार आंखें हैं, यह भी अलंकार से ही लिखा गया है।

यूनानी साहित्य में दो कुत्तों का वर्णन — यह ऊपर लिखा जा चुका है कि यूनानी साहित्य भी संसार में पर्य्याप्त प्राचीन है उसमें भी मृत्यु लोक सम्बन्धी दो कुत्तों का वर्णन आता है।

Sarameya, the son of Sarma, was in Sanskrit as independent a name as Hermeias in Greek. Both meant originally the same thing, the child of the dawn, (Max Muller's Chips Vol. 4 P. 410) अर्थः— सारमेय सरमा का पुत्र संस्कृत में वही है जो यूनानी भाषा में हरमीस है। दोनों का वास्तविक अर्थ एक ही है, वह यह कि 'उषा के पुत्र'। मैक्समूलर के इस लेख से यह तो विदित हो ही गया है कि हेरमा (उषा) के हेरमीस पुत्र वे ही हैं जो संस्कृत में सरमा के पुत्र सारमेय हैं। इन दो पुत्रों का नाम है Cerberos सर्बेस और Orthros आर्थ्रस। ये दोनों कुत्ते उनके यहां माने जाते हैं। उनके

साहित्य में कुत्तों के वाचक होते हुए ये दोनों पद रात और दिन का अर्थ भी देते हैं। यूनानी भाषा में सर्बेस का अर्थ है रात और काला कुत्ता जिस का काम नरक लोक की देख भाल करना है। "Cerberos, therefore, in Greek would have meant originally the dark one, the dog of night, watching the path to the lower world (M. M Chips. Vol. 4 P. 251.) । इस लेख का आशय ऊपर भाषा में दे दिया है। वेद में भी रात को श्याम कुत्ता कहा गया है और नक्षत्रों से रात दिन को मनुष्य का द्रष्टा कहा गया है॥ कई विद्वानों का कथन है कि संस्कृत का शर्वर (काला) इस यूनानी सर्बेस से मिलता है, दोनों का अर्थ एक ही है। दूसरे आर्थ्रस नामक कुत्ते का यूनानी भाषा में 'प्रातःकाल का प्रकाश' अर्थ भी करते हैं "But it is also a name for first pale light of the dawn" (The Mythology of the Aryan Nations. by G. W. Cox P. 537) । इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आर्थ्रस प्रातःकालीन प्रकाश अर्थात् दिन का वाचक है और सर्बेस रात्रि का। वेद में ये कुत्तों के स्वरूप से वर्णित होते हुए भी दिन और रात का अर्थ देते हैं। ये दोनों परस्पर भाई हैं और नरक लोक के राजा यम के कुत्ते हैं देखोः—

The dog of the hateful king, the Cerberos of the Hesiodic Theogeny, is but another form of Orthros, who is called his brother. (Cox P. 531)

यूनानी साहित्य के इस वाक्य से तो सारा का सारा रहस्य खुल जाता है कि किस प्रकार ये दो श्वान दिन और रात हैं और उषा के पुत्र हैं। इन मर्मों के न जानने से लोग कुछ का कुछ अर्थ करते हैं। इस लेख में हमने पाठकों को यह बताया है कि यम मृत्यु है कोई विशेषाकृति देहधारी नहीं। उसके अधीन पितर हैं जो कि याज्ञिक हैं। पितरों की गति कृष्णा यों है और उनका अयन दक्षि

णायन क्यों है यह भी सिद्ध किया है। यम के दो दूतों, कुत्तों का रहस्य भी हमने प्रमाण और तुलनात्मक विचारों से सिद्ध किया है। इस लेख में हमने बहुत संक्षेप से काम लिया है, यदि इसका विस्तार किया जावे तो एक बड़ी पुस्तक तय्यार हो सकती है। इस दिग्दर्शन कराने की हमारी इच्छा इसलिए हुई कि पाठक पढ़कर यह अनुभव करें कि किस प्रकार वेद के आलंकारिक रहस्य संसार में छिपे हुए हैं और किस तरह वैदिक अर्थों का अनर्थ करके लोगों में अज्ञान फैला हुआ है। इस नई रिसर्च वा इस प्रकार प्राचीन साहित्य के आधार से अर्थों के करने का विचार कई सहस्र वर्षों के पीछे स्वामी दयानन्द ने हमें बताया है। हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि फिर से वेद के छिपे हुए कोष को प्रकट करके ऋषियों के महत्व को जगत् में प्रकट करें ॥ शम् ॥

शुद्धि

(डा० बालकृष्ण एम०ए०, पी०एच० डी०, प्रिंसिपल, राजाराम कालिज, कोल्हापुर)

शुद्धि के प्रश्न को लेकर आज रक्त की नदियां बहाई जा रही हैं। हिन्दू मुसलमान जो सैकड़ों वर्षों से परस्पर हिलमिल कर रहते थे और हर्ष वा शोक में परस्पर का साथ देते थे आज एक दूसरे के रुधिर के प्यासे हो रहे हैं। आर्यसमाज तथा कुछ दिनों से हिन्दू-समाज ने भूले भटके अर्ध-हिन्दुओं को पूर्ण हिन्दू बनाने, एवं अपने बिछुड़े हुए भाइयों को गले से लगाने का यत्न किया है-इस पर मुसलमान लोग चमक उठे हैं और स्थान २ में हिन्दुओं पर आघात कर रहे हैं। मलाबार, मुलतान, सहारनपुर, देहली, लखनऊ, गुलबर्गा, कोहाट, इलाहाबाद, जबलपुर इत्यादि स्थानों में जो लड़ाइयां हुई हैं उनसे स्पष्ट हो गया है कि धर्म की आड़ में शैतानी जोश से अन्धे होकर मुसलमान क्या नहीं कर सकते? देवी-देवताओं को तोड़ना, मन्दिरों को अपवित्र करना, उनको गिराना वा जला देना, स्त्री पुरुषों को मारना, स्त्रियों की बे इज्जती ही नहीं परञ्च उनसे राक्षसी व्यवहार करना, निरपराध कन्याओं को निर्दयता से मारना और उनसे पाशविकरूप से बलात्कार (व्यभिचार) करना, स्त्रियों के नाक, कान, स्तनों को काट लेना, अबला स्त्रियों और कन्याओं को भगा ले जाना और उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बनाना, हिन्दू बालकों को बलात् मुसलमान बनाना, हिन्दुओं के घरों और दुकानों को लूटना और आग लगा देना—ये बातें आज प्रायः दो वर्ष से स्थान स्थान पर हो रही हैं। कितने ही स्थानों में हिन्दू नर-नारी क्षुधा-निवृत्ति तक की वस्तुओं से सर्वथा वञ्चित कर दिये गये हैं। मुलतान में कई स्त्रियों को नग्न करके बाज़ार में छोड़ दिया गया

और वे बेचारी दूसरों के घरों में जाकर विपत्ति में रहीं। विना घर-धन-अशन-वसन-सामान सैकड़ों हिन्दू घराने बर्बाद हो गए हैं। मुसलमानों की धर्मान्ध दुश्चेष्टाओं के ये कतिपय उदाहरण हैं। आज उनका राज्य नहीं, यदि ऐसे समय में वे इस देश में राज्य करते होते तो परमात्मा जाने इस से भी अधिक और क्या २ अत्याचार करने पर उतारू होते। हिन्दुओं की जो दुर्गति उस अवस्था में होती उसका अनुमान इन घटनाओं से बुद्धिमान् लगा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि इस वैमनस्य को रोकने के कोई साधन भी हैं या योंही सदा के लिए यह राक्षसी कलह बढते जावेंगे और भारत धार्मिक युद्धों का स्थायी क्षेत्र बनकर गारत हो जावेगा?

द्वितीय प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू लोग सर्वशः यह मान गये हैं कि शुद्धि होनी चाहिए? क्या शुद्धि शास्त्रोक्त है? क्या शुद्धि हमारे इतिहास से सिद्ध होती है? या महात्मा गान्धी जी के कथनानुसार शुद्धि के लिए हिन्दू इतिहास में कोई साक्षियां नहीं, अतः हमें शुद्धि को स्थगित कर देना चाहिए, एवं च यदि हिन्दू वा आर्यसमाजी यह काम छोड़ देवें तो परस्पर विरोध, कलह और युद्ध स्वयं बन्द हो जावेंगे। करोड़ों हिन्दू शुद्धि के पक्ष में नहीं हैं और इधर से महात्मा गान्धी जैसे कांग्रेसी हिन्दू भी शुद्धि को अहितकर समझते हैं। शुद्धि की आवश्यकता और धर्मानुकूलता पर हिन्दू जनता में एक मत नहीं और यदि वह सहमत भी हो जावे तो मुसलमान शुद्धि करने देना नहीं चाहते। इन कठिन समस्याओं की पूर्ति कैसे की जावे, इसका उत्तर हमें निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करने से स्पष्ट मिल जावेगा—

(१) क्या शुद्धि शास्त्रोक्त है?
(२) क्या शुद्धि इतिहास सिद्ध है?
(३) क्या अब शुद्धि की आवश्यकता है?
(४) क्या मुसलमानों का कोप (विरोध) हटाने का कोई उपाय है?

(१) क्या शुद्धि शास्त्रोक्त है ?

पतित-परावर्तन और शास्त्र ।

शुद्धि के शास्त्रोक्त होने में किंचिन्मात्र भी संशय नहीं हो सकता। प्राचीन तथा मध्यकालीन सर्व स्मृतिशास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है। मानव, आपस्तम्ब, याज्ञवल्क्य, गौतम, विष्णु, आदि में से किसी स्मृति के पठनमात्र से शुद्धि के प्रचुर प्रचार का पता लग जावेगा। प्राचीन समय में हमारे पूर्वजों ने मनुष्य के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर बहुत से बन्धन लगाए हुए थे। उस काल में भी पाप हुआ करते थे। परन्तु जाति का बल व्यक्ति पर अधिक था, धर्म के भाव भी अधिक प्रसृत थे-इस कारण प्रायःशुद्ध आचरण रखने की चेष्टा अधिक रहती होगी। परन्तु यदि कोई ज्ञान वा अज्ञान से कोई पाप कर बैठता था तो प्रायश्चित्त करने पर वह पापमुक्त समझा जाता था।

इन शास्त्रों से पता लगता है कि पापी जन जाति से बहिष्कृत किये जाते थे, कई अछूत (अस्पृश्य) भी माने जाते थे। और जो प्रायश्चित्त करके शुद्ध नहीं होते थे वह इस पतितावस्था में रहते थे। परन्तु इन पतितों को उठाने के लिए शुद्धि का मार्ग खुला था।

विष्णुस्मृति में

सर्व प्रकार की चोरी के लिए प्रायश्चित्त बताए गए हैं। एवं सर्व प्रकार के व्यभिचार के लिए भी व्रत कहे हैं। पशु गमन, चाण्डाली-गमन तथा सर्व प्रकार के अनैसर्गिक व्यभिचार के लिए भी प्रायश्चित्त करके स्त्री पुरुष पवित्र हो जाते हैं (५२) व्यवसाय तथा व्यवहार में धोका देने के पाप के लिए प्रायश्चित्त कहे हैं। (५३) अस्पृश्यों के साथ भोजन करने के लिए भी प्रायश्चित्त हैं। गौ, ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्यादि मनुष्य, तथा अन्य जीवों को मारने पर जो पाप लगता है वह भी विशेष प्रकार के व्रतों से दूर हो सकता है। महापातक, उपपातक, जातिपातक, आदिकों से नरनारी व्रतों द्वारा, मुक्त हो सकते हैं। कई पापों के करने वालों के लिए जातिबाह्य हो कर अस्पृश्यों के समान रहने का विधान है, परन्तु उनकी भी शुद्धि होने पर पुनः जाति में मिला लेने और ऐसे पतितों को पवित्र मान कर जाति के सर्व अधिकार दिये जाने की आज्ञा है।

महापातकों की गणना मनु (अ० ११। श्लो० ५५-५६) में दी है। और आगे (श्लो० ६०—६७) में उपपातकों की गणना की गई है। जातिभ्रंश और संकरीकरण पापों का वर्णन आगे के दो श्लोकों में दिया है। फिर आगे चलकर (श्लो०७४-८४) में ब्रह्महत्या के पाप को निवारण करने की विधियां बताई गई हैं। निम्न लिखित श्लोक इस विषय के सभी भ्रमों को सर्वथा निवारण करते हैं।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ ७)(११ । १०
उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिवेत् ।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ (१०८)

अर्थात्—इन व्रतों के द्वारा महापातकी पाप को दूर करें और उपपातकों को आगे कहे हुए नाना प्रकार के व्रतों से। गो-हत्या का उपपातकी एक मास तक यवों का पानी पीवे और मुण्डन करा कर गोचर्म ओढ़े हुए गौओं के स्थान में रहा करें।"

आगे १२५ श्लोक में " जातिभ्रंश के पापों से मुक्त होने की विधि " बताई है:—

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतमिच्छया ।
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥

यदि जाति से बहिष्कृत करने वाले किसी पाप को इच्छा से किया हो तो सान्तपन कृच्छ्र व्रत धारण करे और यदि इच्छा पूर्वक न किया हो तो प्राजापत्य व्रत को करे। ऐसा करने से वह पाप-मुक्त हो जाता है।

पाठकवृन्द ! क्या अब भी यह स्पष्ट नहीं हुआ कि महापातक, उपपातक या जातिभ्रंश कारक पापों से भी पतित लोग व्रत करा कर शुद्ध किए जा सकते हैं। यदि आज कल के अछूत जातिभ्रंश कारक पापों के कारण आर्य जाति से पतित हुए माने जावें तो क्या अब उन्हें मनुस्मृति में कहे हुए व्रतों को धारण करा कर हम शुद्ध नहीं कर सकते ? परन्तु मनु-भगवान् तो इससे भी कहीं अधिक पतित-पावन हैं। देखो ! वे क्या कहते हैं :—

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
नाज्ञानकृतंज्ञा कृत्स्नं शृणु तानाद्यभक्षणे ॥ (११ । १४५)

इन प्रायश्चित्तों को करके हिंसाजनित पाप जो कि जाने या बिन जाने किया हो दूर करना चाहिये। " अब आगे अभक्ष्य भक्षण के प्रायश्चित्त सुनो। "

अभक्ष्य पदार्थों के खाने पर पुनः दीक्षा संस्कार कराया जाता था परन्तु उस संस्कार में कोई विशेषता न थी। केवल मन्त्रों का पढ़ना और हवन करना होता था। देखिये:- (मनु० ११।१५१)

वपनं मेखलादण्डौ भैक्ष्यचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कार कर्मणि ॥

द्विजातियों के फिर से उपनयन होने में मुण्डन, मेखला-धारण, दण्ड-धारण, भिक्षा और व्रत ये सब नहीं होते हैं।

आज कल कहा जाता है कि आर्यसमाजी छू मन्तर से पतितों

को शुद्ध कर लेते हैं, कोई क्रियाकाण्ड विशेष प्रकार से नहीं कराते परन्तु जब कि मनुस्मृति में ही ऐसी आज्ञा दी गई है तो आर्यसमाजी और क्या करें ?

प्रायश्चित्तों और व्रतों द्वारा सर्वप्रकार के पापियों की शुद्धि करना हमारे शास्त्रों का मौलिक सिद्धान्त है। इसे मनुभगवान् ने पुनः एक श्लोक में यों कहा है —

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ (२३९)

महापातकी और शेष सब उपपातकों वाले उक्तप्रकार के तपों ही के अनुष्ठान से पापों से छूट जाते हैं।

अभिशस्तों या अछूतों का उद्धार।

कई पापों के करने से मनुष्य अभिशस्त या अछूत कहलाते थे वे जाति से गिरा दिये जाते थे। उन से कोई सम्बन्ध न रक्खे जाते थे। उन्हें जीते जी मरा हुआ समझना चाहिए। आपस्तम्ब ने (१ । ७ । २१ में) पूरी गिनती उन पापों की की है जिनसे लोग अभिशस्त बनते हैं। अभिशस्तों के जीवन और उनके उद्धार की विधि इस प्रकार बताई है। अभिशस्त बन में कुटिया बनावे, मौनव्रत धारण करे, लकड़ी (सोटी) पर मनुष्य की खोपड़ी लटकावे, शरीर पर आधी धोती पहने, जब वह ग्राम में जावे तो किसी आर्य के दृष्टिगोचर होने पर वह मार्ग पर से दो गज़ हट कर खड़ा होजावे।

मद्रास प्रान्त में अछूतों के जीवन की अब तक यही परिपाटी चली आती है। अभिशस्त अपने हाथ में किसी धातु का टूटा हुआ पात्र ले जावे और उसमें भिक्षा मांगे। सात घरों पर जा कर कहे कि 'अभिशस्त को कोई भिक्षा देगा ?' इन सात घरों में कुछ

मिल आवे तो खावे नहीं तो उपवास करे। साथ ही वह गौ को सेवा करे। ग्राम में से आती हुई और जाती हुई गौओं के पीछे पीछे आवे। बारह वर्षों तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर के उसकी शुद्धि की जावे। जिसके पश्चात् वह आर्यों के समाज में पुनः प्रविष्ट हो। और भी देखिये आपस्तम्ब (१ । ६ । २४) —

केवल आपस्तम्ब का ही ऐसा वचन नहीं है परञ्च विष्णु, याज्ञवल्क्य (३ । २६४) और मनु आदि में यही व्यवस्था है कि प्रायश्चित्त करने तथा शुद्ध होने पर अछूत भी पूरा आर्य बन जाता है व अपने सर्व अधिकारों को प्राप्त करता है। वह पुनः आर्यसमाज का सभ्य बन जाता है।

कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ [१६०]

प्रायश्चित्त किए हुए पुरुषों की कभी निन्दा (या उनसे घृणा) न करे।

जो आर्योचित कर्मों के न करने से पतित हुए तथा अछूत बने हैं उन्हें शुद्ध करने की आज्ञा तो है ही, अब आर्यधर्म से जो अनार्य या यवन धर्मों में चले गए हैं उन्हें भी शुद्ध करने की व्यवस्था शास्त्रों में मिलती है। आपस्तम्बके वचन ध्यान से पढ़िये:—

बलाद् दासीकृतो म्लेच्छैश्चाण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ।
अशुभं कारिते कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥
उच्छिष्टमार्जनं चैव तथा तस्यैव भक्षणम् ।
तत्स्त्रीणां तथा संगस्ताभिश्च सहभोजनम् ॥
कृच्छ्रान् संवत्सरं कृत्वा सान्तपनान् शुद्धिहेतवे ।
ब्राह्मणः, क्षत्रियस्त्वर्धं कृच्छ्रान् कृत्वा विशुद्ध्यति ॥

अर्थात् जिसको म्लेच्छ वा चाण्डालादिक दस्युलोग बलपूर्वक पकड़ कर दास बना लेवें अथवा कोई अशुभ कर्म करावें जैसे गौ

वा अन्य प्राणियों की हिंसा, जूठन साफ़ करना, जूठन खाना, उनकी स्त्रियों का संग करना और उनके साथ भोजन करना-तो शुद्ध होने के लिए ब्राह्मण एक वर्ष पर्यन्त कृच्छ्रव्रतों का करके और क्षत्रिय आधे वर्ष कृच्छ्र व्रतों को करके शुद्ध होता है।

यह भी स्मरण रहे कि जो अवैदिक जातियां इस समय पाई जाती हैं वे हमारे शास्त्रानुसार किसी समय आर्य थीं। ऐतरेय-ब्राह्मण (७।१८) में बताया है कि विश्वामित्र के पुत्रों को ऋषि (पिता) से जब शाप मिला तो वह आर्यत्व से गिर गए, तब उनकी सन्तान अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिबा आदि जातियां बन गई। यही बात विष्णुपुराण में भी बताई गई है शक, यवन, कम्बोज, परद, पह्लव, आदि लोग आर्य थे परन्तु इनको आर्य कर्मों का विधान न करने दिया गया तब से ये अनार्य बन गए। इसी विषय में मनु-स्मृति में आए हुए (१० ४३।४४) श्लोकों को भी स्मरण कीजिए—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

इन जातियों को हम आर्य बौद्ध आदिक मतों में लाते रहे हैं और अब भी लाने का यत्न करना चाहिए। शुद्धि तो हमारे सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र रहो है। इसे छोड़ देने से ही हम निर्बल होते गये हैं। मिश्रजाति को शुद्ध करने के उदाहरण से ही किञ्चित् जागिये।

"भविष्यपुराण खण्ड ४ अध्याय २१ से पता लगता है कि लगभग ७००० वर्ष हुए कि मिश्रदेश में म्लेच्छजाति रहती थी जिस का आचार व्यवहार आर्यजाति से विभिन्न था। उस समय कण्व

मुनि ने वहां जाकर दस हज़ार (१००००) म्लेच्छों को हिन्दूधर्म की दीक्षा दी और संस्कृत भाषा पढ़ाकर भारतवर्ष में लाए। उन के गुण कर्म को देख कर उन में से २००० मनुष्यों को वैश्य बनाया, एक मनुष्य को क्षत्रिय गुण से अलङ्कृत समझकर राजपुत्र नगर (पटना) का राज्य दिया और शेष को शूद्र वर्ण में मिलाया।"

शाकद्वीप से आई हुई मग जाति के लोग भारतवर्ष में आए और यहाँ के ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित हो गये ये आजकल शाकद्वीपी ब्राह्मण कहलाते हैं।

अन्त में वेद की आज्ञा को मत भूलिये कि (१) वेदविद्या सब नरनारियों के लिए अभीष्ट है और (२) सारे संसार को हमें आर्य बनाना चाहिए–

(१) "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ् शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥"
(यजु० २६। २)

अर्थात् जैसे मैं इस कल्याणकारक वाणी को जनों के प्रति बोलू (वैसे तुम भी) ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य और अपने भृत्य के लिए (बोलो)।

(२) "इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः॥" (ऋ० ९। ६३।५)

अर्थात् कर्मशील और इन्द्र (के विजय) को बढ़ाने वाले, "सब को आर्य बनाते हुए" अधार्मिकों (के अधर्म) को विध्वंस करने वाले॥

क्या शुद्धि इतिहाससिद्ध है?

भारत का सम्पूर्ण इतिहास शुद्धियों की अकाट्य और अद्भुत

साक्षियों से भरपूर है। प्राचीनतम समय से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त शुद्धि आगे के मैदान में रहती आई है। शुद्धि का अर्थ शूद्रों और दलितों का उद्धार करना और एक धर्मावलम्बी को दूसरे धर्म में लेजाना है। यह दोनों अर्थ स्मरण रखने से भारतीय इतिहास का सूत्र मिल जावेगा। आइये ज़रा इतिहास अवलोकन करें।

(क) विक्रम संवत् से ५०० वर्ष पूर्व बुद्ध भगवान् ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उन के जीवनकाल में यह धर्म मगधाधीश और उस की प्रजा ने स्वीकार कर लिया–अर्थात् वैदिकधर्म को छोड़ कर हमारे भारतवासी बौद्ध बन गये और बनने लगे। बौद्ध धर्म में दलितों को विशेष प्रकार से उठाया गया। उन्हें प्रचारक तक बनाया गया। इस प्रकार दोनों प्रकार की शुद्धियां की गईं।

(ख) बौद्ध धर्म फैलता गया परन्तु अशोक महाराज के समय में इस धर्म का विशेष विस्तार हुआ। भारतवासी और विदेशी समानतया इस पवित्र धर्म से शान्ति प्राप्त करने लगे। करोड़ों वैदिक धर्मी बौद्ध हो जाने से अपने पुराने धर्म को छोड़ गये। जब यह धर्म लंका, ब्रह्मा, चीन, जापान, फ़ारस आदि देशों में फैला तो वहां के इतर-धर्मियों को बौद्ध बनाया गया।

(ग) महाराज चन्द्रगुप्त ने यूनानी राजा सलूकस की पुत्री से विवाह किया। एक वैदिक धर्मी राजाने म्लेच्छ वा यवन राजपुत्री को अपनी रानी बनाया, उसे अवश्य शुद्ध किया समझना चाहिए।

(घ) कहा जाता है कि महायोधा अर्जुन पाताल में गये और वहां नाग राजा की पुत्री से विवाह किया। इस से स्पष्ट है कि विधर्मियों से खान पान और विवाह सम्बन्ध करना अनुचित वा वर्जित नहीं समझा जाता था।

(ङ) श्री रामचन्द्र जी से शूर्पणखा अनुरोध करती है कि वे उस राक्षसी से विवाह कर लेवें। वे तय्यार नहीं हुए, परन्तु उस

के साथ विवाह करने की आज्ञा लक्ष्मण को दी थी, इस से भी स्पष्ट है कि मर्यादापुरुषोत्तम के समय में भी शुद्धि के ऊपर कोई प्रश्न नहीं उठता था।

(च) रामचन्द्रजी महाराज वानर जाति के लोगों और सरदारों के साथ बराबर खान-पान रहन-सहन करते रहे। रामायण में कहीं शुद्धि-अशुद्धि का प्रश्न पैदा नहीं होता?

(छ) लङ्का में श्रीराम और उनके साथी विभीषण के साथ रहते और खाते पीते थे। अतः राक्षसों के साथ भी रहने से अशुद्धि का प्रश्न नहीं पैदा होता।

(ज) महाभारत से ज्ञात होता है कि भीमसेन ने एक राक्षसी से भी विवाह किया था जिस से घटोत्कच नामक बली पुत्र उत्पन्न हुआ था।

(झ) इस समय के लोग अपनी प्राचीन प्रथा को सर्वथा भुला बैठे हैं। बौद्ध धर्म के सहस्रों भिक्षुक और भिक्षुकाएं भारतवर्ष, ब्रह्मदेश, तिब्बत, लङ्का, स्याम, चीन, जापान, दक्षिणी द्वीप, तुर्किस्तान, ईरान, मैसोपोटामिया, टर्की, यूनान, मिश्र, इंग्लैण्ड ही में नहीं किन्तु पाताल में भी मैक्सीको आदि देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में, शाक्याचार्यों में प्रमुख बुद्ध भगवान् के संदेश को पहुंचाते और तत्तद्देश निवासियों को बौद्ध बनाते थे। म्लेच्छों, यवनों, मङ्गोलियों, चीनियों, रूसियों, जापानियों, ईरानियों, तुर्कों आदि के पास जा कर रहते, खान-पान करते और उन्हें धर्मोपदेश सुना कर शुद्ध करते तथा भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति का उन में प्रचार करते थे। इस प्राचीन समय के भारतीय बौद्धों की दृष्टि में " वसुधैव कुटुम्बकम् " पृथ्वी भर के लोग उन के कुटुम्बी थे। रहन-सहन, खान-पान में कोई बाधाएं नहीं थीं। सैकड़ों जातियों को हमने प्राचीन समय में शुद्ध किया क्योंकि उनके धर्मों से हटा

कर उन्हें बौद्ध बनाया।

(ञ) तक्षशिला और नालन्दा के विश्वविद्यालयों के जो वर्णन मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि एशिया के पश्चिमी देशों और मिश्र तथा यूनान तक के लोग भी इन यूनीवर्सिटियों में पढ़ते थे। समस्त भारत के छात्र तो इन में अवश्य ही रहा करते थे। उनमें खान-पान और रहन-सहन का कोई भेद नहीं बताया जाता। सभी जातियों तथा धर्मों के लोग परस्पर प्रेम से वहां रहते और विद्या प्राप्त करते थे। आज हिन्दू भी एक दूसरे को दुत्कारते हैं, अपने मित्रों और सम्बन्धियों तक के हाथ की रोटी नहीं खाते और छः करोड़ स्व-धर्मानुयायियों को धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकारों से वञ्चित कर रहे हैं। हा! शोक! कि आज हम केवल मुसलमानों के साथ मिल कर नहीं रह सकते।

उपर्युक्त सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि विधर्मियों से विवाहादि सम्बन्ध और उनके साथ रहन सहन बराबर होता था। परन्तु आज हमें उनको अपने साथ मिलाने में अधर्म प्रतीत होता है! श्रीराम जी ने भीलनी के जूठे बेर भी खा लिये थे, परन्तु आज हमारे हिन्दू लोग अपनी स्त्रियों के हाथ से पकाया हुआ खाने में छूत समझते हैं।

(ट) भारतीय इतिहास में आगे बढ़िये तो क्या क्या गुल खिलते हैं? आपको ज्ञात है कि खिस्ताब्द से २०० वर्ष पूर्व और पीछे तक यूची, शक और यवन (यूनानी) लोग भारत के कई भागों में आबाद हो गये। कई सौ वर्षों तक उन्हों ने यहां राज्य किया, परन्तु इस निवास में वे भारतीय बन गये और उन्हों ने अपने प्राचीन धर्म, रीति, रिवाज, नाम, काम छोड़ कर वैदिक धर्म धारण कर लिया। एक दो की तो क्या, लाखों शक, तुरुष्क (तुर्क) और यवन (यूनानी) लोग हिन्दू बना लिये गये। आज कल जब कोई मुसलमान हिन्दू बनता है तो उसका हिन्दू-नाम

दिया जाता है, जैसे अब्दुलग़फ़ूर से धर्मपाल। वैसे जब कोई हिन्दू मुसलमान बनाया जाता है तो उसे मुसलमानी नाम दिया जाता है ठीक यही दशा इन शकों और यवनों की हुई थी। देखिये, विदेशी राजाओं के नाम भारतीय कैसे बनते हैं।

कुशाण राजा	शक राजा
कैडफ़ाइसिज़	नहपान
कनिष्क	चष्टन
वासुदेव	रुद्रदामन्

कैडफ़ाइसिज़ के विषय में ऐतिहासिक स्मिथ का कथन है कि यह " कुशान विजेता विजित भारत से स्वयं जीता गया " और शिव की पूजा उसने ऐसे उत्साह से करनी आरम्भ की कि उस देवता की मूर्ति अपने सिक्कों पर बनाई और अपने को वह शिव का पुजारी कहा करता था।

दोनों महाराज कनिष्क और हुष्क बौद्ध हो गये और उन्हों ने जिस जोश के साथ देश देशान्तरों में बौद्धधर्म का प्रचार किया उस का साक्षी संसार का इतिहास है। चीन में बौद्धधर्म प्रचार इन्हीं महाराजाओं के कारण हुआ है। परन्तु इनका उत्तराधिकारी वासुदेव महाराज ब्राह्मण धर्म का अनुयायी हो गया। शिव की पूजा और संस्कृत के प्रचार में इसने बहुत यत्न किया। हुष्क के भी ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर स्कन्द और उसके पुत्र विशाल की मूर्तियाँ हैं, अतः वह भी किसी अंश तक ब्राह्मण धर्म को मानता था। वासुदेव के सिक्कों पर तो शिव नन्दी बैल के ऊपर सवार हैं, उनके हाथ में त्रिशूल, रज्जु और शंखादि के अन्यान्य चिह्न भी मिलते हैं। इस प्रकार हमारे पूर्वजों ने इन विदेशी अनार्य कुशान राजाओं को बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्मी बना लिया था। इससे अधिक स्पष्ट शुद्धि का क्या प्रमाण चाहिये?

यही अवस्था शक क्षत्रियों की हुई। रुद्रदामन्, उसका पुत्र रुद्रसेन, और उसकी पुत्री दक्षमित्रा-इनके नाम ही उनके हिन्दू हो जाने के प्रमाण हैं। उसकी पुत्री का विवाह भी हिन्दू आन्ध्र राजा के साथ हुआ : यह वही राजा है जिसकी राजधानी किसी समय कोल्हापुर थी। इस प्रकार ईरान के पह्लवों को हमने आर्यावर्त में आर्य बना दिया। आज शक, हूण, पह्लव, कुशान सब हिन्दूधर्म में समा गये हैं। हमारे पूर्वज तो ऐसे शक्तिशाली थे कि विधर्मियों को वैदिकधर्मी बना देते थे परन्तु यह हमीं हैं कि मुसल्मानों को हिन्दू बनाने से डर रहे हैं। धर्म हमारे अन्तःकरण की धारणा है-जब एक मुसलिम हिन्दू-धर्म मन में स्वीकार कर चुका तो उसे हिन्दू धर्म में क्यों नहीं मिलाना चाहिये ?

हमको महाराष्ट्र के इतिहास से अनेक जाज्वल्यमान उदाहरण शुद्धि अर्थात् पतित-परावर्तन के मिलते हैं। महाराष्ट्र हिन्दूधर्म और ब्राह्मणत्व का गढ़ रहा है, वहाँ की हुई शुद्धियों को जानकर इस समय के हिन्दुओं की आंखें खुलनी चाहियें। कुछ मोटे मोटे उदाहरण महाराष्ट्र के इतिहास से दिये जाते हैं।

(१) बजाजी नाईक निंबालकर को आदिलशाह ने पकड़ कर ऐसी धमकी दी कि मुसल्मान होने पर बड़ी जागीर मिलेगी नहीं तो सारी जायदाद ज़ब्त करली जावेगी। ४०० वर्ष की पुरानी जायदाद को ज़ब्त होने देना उचित न समझ कर उसने मुसल्मान होना इस शर्त पर स्वीकार किया कि शाह अपनी पुत्री देवे। इस पर ऐसे ही हुआ। निंबालकर का शिवाजी भोंसले के राजघराने से गहरा सम्बन्ध था इस लिए शिवाजी की माता जिजाबाई को यह ख़बर बहुत बुरी लगी। उन्हों ने समस्त मराठा मण्डल एकत्र करके शास्त्र के आधार पर उसको शुद्ध करके गोत में वापिस ले लिया और कोई आपत्ति न करे इस विचार से शिवाजी की पुत्री सखूबाई निंबालकर के बड़े पुत्र से ब्याह दी।

(२) पुताजी बिन मुधोजा, पेराजी दावल जी सोमवंशी के पास नौकर था। लश्कर के साथ वह सूरत प्रान्त को गया वहां मुग़लों के साथ पड़ गया और उन्हों ने उसे धर्म भ्रष्ट किया। वर्ष सवावर्ष मुग़लों की सेना में रहा। फिर जब बालाजी पण्डित प्रधान दिल्ली से आरहे थे तो उनके साथ गाँव को आया। अपना हाल कहा इस पर इस विचार से कि यह मुग़लों के बलात्कार से भ्रष्ट हुआ है अपनी इच्छा से नहीं, उसको सरकारी आज्ञा से शास्त्रप्रमाणा-नुसार गोत में मिला लिया गया।

(३) राणोजी धुमाल पाटील ने एक बांदी ख़रीद कर चार वर्ष घर में रक्खी। उस बांदी ने मुसलमान का अव्यवहार किया था। इस लिए सरकारी आज्ञा से उस पाटील का प्रायश्चित्त करा कर जाति में लिया गया।

(४) तुलजो भट्ट जोशी को यवनों ने फुसलाकर भ्रष्ट किया था। उसको पश्चात्ताप होने पर प्रायश्चित्त करा कर ब्राह्मणों में मिलाने का निर्णय हुआ। उसको पंक्तिपावन किया गया और सरकारी ताकीद की गई कि विघ्न डालने वाले को दण्ड मिलेगा।

(५) गङ्गाधर रंगनाथ कुलकर्णी मुग़लों की सेवा में था। कुछ दिन की नौकरी के बाद मुग़लों ने उसको बलात्कार भ्रष्ट करके बन्दीख़ाने में डाल दिया। वहां यवनों का खान-पान संसर्ग हुआ। पश्चात् उसको ऊंची नौकरी मिली। पांच वर्ष नौकरी करके उस के हृदय में अनुताप हुआ और उसने सब धन-दौलत को लात मार कर अपने वर्ग में फिर आना चाहा। राजश्री छन्दोगामात्य ने सभा करके समस्त विद्वानों की सम्मति से मिताक्षरादि निबन्ध से निर्णय लेकर उसका प्रायश्चित्त कराया और आज्ञा की कि उसके ब्राह्मणत्व में जो सन्देह करेगा वह देवब्राह्मण द्रोही महापातकी समझा जवेगा यह शक संवत् १६०८ चैत्र शु० २ सोमवार की बात है।

(६) पेशवा सवाई माधवराव के समय में नरहरि राणालेकर नामक ब्राह्मण यवनमय और भ्रष्ट हो गया। पेशवा की आज्ञानुसार पैठान के ब्राह्मणों में शुद्ध करके मिला लिया गया।

(७) प्रथम बाजीराव पेशवा के साथ हैदराबाद के नव्वाब की बेगम ने अपनी पुत्री "मस्तानी" का विवाह कर दिया था। इससे एक पुत्र भी हुआ था।

(८) प्रथम के पांच उदाहरणों के पूरे विवरण के लिए देखिये महादेव शास्त्री दिवेकर की पुस्तक "धर्मभ्रष्टांचें शुद्धीकरण आणि शुद्धिसंस्कार" पृ० २३ से २७ तक। अन्तिम दो के लिए देखिये रानाडे का "राइज़ आफ़ दी मराठा पावर" अध्याय १३, पृ० २६६ और २७०।

भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में जो हिन्दू लोग आज रहते हैं उनको भलीभांति देखने से ज्ञात होता है कि वे सब आर्य नहीं हैं। पञ्जाब और राजपूताना में अधिकतर आर्य जाति के लोग रहते हैं, परन्तु संयुक्त प्रान्त और बम्बई प्रान्त में आर्यों और शकों की सन्तान पाई जाती हैं। बङ्गाल में मङ्गोलियन, शक, द्राविड़ और आर्य इन चारों जातियों के मेल से उत्पन्न लोग इस समय रहते हैं। मद्रास प्रान्त में द्राविड़ और आर्य जाति के मिलाप से लोग उत्पन्न हुए हैं। ये वैज्ञानिक तथ्य हैं जिनको केवल जात्युन्माद या धर्मान्धता ही झूठा बता सकती है। अन्यथा ये बातें सबको मान्य हैं।

मिश्रदेश की म्लेच्छ जाति के हिंदू बनाकर भारत में लाए जाने और मगों के शाकद्वीपी ब्राह्मणों के नाम से शाकद्वीप से भारत में आने की बात ऊपर शास्त्र सम्बन्धी लेख में दी जा चुकी है।

पाठक! किञ्चित् विचार करो। हमारे इतिहास में एक ऐसा समय था कि जब इन प्रान्तों में द्राविड़ों, शकों और मङ्गोलियों का निवास था। ये विदेशी, विजातीय और विधर्मी लोग हमारे आर्या-

र्त में वास करते थे। ये लोग न तो आर्यधर्मी और न आर्य जाति ही के थे। परन्तु हमारे पूर्वजों ने इनको आर्य धर्मी बनाया। इनके साथ विवाह, खान पान, रहन सहन जारी रक्खे। इन पारस्परिक सम्बन्धों से वे विधर्मी और आर्य एक हो गये। वे आज हिंदूधर्म के अनुयायी हैं और भिन्न भिन्न प्रांतों में रहते हैं। कहा जाता है कि हिन्दू लाग दूसरे धर्म वालों को अपने साथ नहीं मिलाते थे। कोई एक दो दस बीस सौ हज़ार उदाहरण हों तो उन के नाम भी लिये जावें। यहाँ तो लाखों की संख्या में विदेशी विधर्मियों को हिन्दू बनाया गया। आज हम उन्हीं की सन्तान हैं। इतने पर भी कौन कह सकता है कि शुद्धि इतिहास-सिद्ध नहीं है?

(३) क्या अब शुद्धि की आवश्यकता है

दलितोद्धार।

मित्रो! हमारे पूर्वज तो यूनानी, तुर्क, शक, मङ्गोल, द्राविड़, आदिकों को हिन्दू बनाये बिना न रहे, परन्तु हम आज इसी देश में रहने वाले हिन्दुओं में से मुसलमान वा ईसाई हो जाने वालों को पुनः हिन्दूधर्म में लेने से घबराते हैं। हमें तो जन्म के मुसलमानों और ईसाइयों को भी वैदिक धर्मी बनाने से नहीं घबराना चाहिये, पर हम इतने गिरे कि अपने भूले भटके हुए भाइयों को वापिस न लेने को ही धर्म समझ बैठे हैं। और उस पर भी तुर्रा यह कि छः करोड़ मनुष्यों को अछूत कह कर उनको हिन्दू धर्म के सर्वग्राही क्षेत्र से निकाल कर धक्के दे रहे हैं। वे भले ही मुसलमान या ईसाई हो जावें परन्तु हम उनकी स्थिति संभालने से इन्कार करते हैं। उन्हें अपने कुओं से पानी भरने तक नहीं देते। उन्हें अपने बाज़ारों और घरों में नहीं आने देते। हर एक विधर्मी, विदेशी, ईसाई, यहूदी,

मुसलमान को घरों, बाजारों, गली-कूचों में आने की आज्ञा है-परन्तु अपने धर्मवालों, अपने देशवासियों, अपने ही कृष्ण, राम, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पुजारियों को यहां आने की मनाही है। गधे, कुत्ते, बिल्लियां, सर्वत्र आ जा सकते हैं-परन्तु मनुष्य को कि जो प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है और जिसका जन्म जीव को चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटने के पश्चात् मिलता है हमने अपने गधों, खच्चरों, बिल्लियों, कुत्तों इत्यादि से भी अधिक घृणित और हेय समझ रक्खा है। यह मनुष्य का मनुष्य के साथ बर्ताव है। यह हम हिन्दुओं का अपने देशवासियों से ही नहीं अपने ही धर्मवालों के साथ सलूक है। कहा जाता है कि हिन्दू स्वभाव से ही दयालु होते हैं। वह दया च्योंटी, कीड़े मकोड़े, चिड़ियों, कबूतरों, गौओं पर तो अवश्य दिखाई जाती है-परन्तु अपने ही देवी देवताओं को मानने वाले 'मनुष्य' पर नहीं। यों तो सबको परमात्मा का पुत्र कहा जाता है और काल्पनिक रूप से सब भाई माने जाते हैं-परन्तु हिन्दू लोग बड़े विचित्र हैं। उनके मन्दिर भी दलितपुरुषों के प्रवेशमात्र से भ्रष्ट हो जाते हैं। अरे! हमारे देवी देवता भी अपवित्र और भ्रष्ट हो जाते हैं। परमात्मा पतितपावन हैं। देवी देवता लोग पापियों को भी पुण्यात्मा बना सकते हैं। परन्तु हिन्दुओं के देवों में यह शक्ति नहीं किन्तु वे ऐसे निःसार नपुंसक हैं कि यदि कोई अछूत उनके सामने आ जावे तो वे ही स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं। वाहरे अछूत! तेरी शक्ति अपरम्पार है। तूने इन्द्र को भी सिंहासन से नरक में गिरा दिया। तू ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को अपनी दृष्टिमात्र से अपवित्र कर दिया। तेरी शक्ति अद्भुत है।

मेरे हिन्दू भाइयो! ज़रा विचार तो करो कि जिस शूद्र वा अछूत में ये शक्तियां हों कि देवताओं को अपने धर्म से गिरा सकता है तो तुम उसे अपने साथ मिलाकर उसकी शक्ति को काम में क्यों नहीं लाते। ऐसे देवी-देवता और अवतारों के पूजने से क्या लाभ

ओ मनुष्यों के आने से अपवित्र हो जाते हैं परन्तु बिल्ली चूहों के मलमूत्र से अपवित्र नहीं होते ? वह सर्व शक्तिमान प्रभु जो इस संसार के रोम रोम में रम रहा है तुम में और अछूत में कोई भेद नहीं करता । उसने अछूत को सूर्य का तेज और प्रकाश, वायु की शीतलता और जल वैसा ही दिया है जैसा तुम्हें । अछूत के अंगों से स्पर्श की हुई वायु तुम्हें लगती है तो तुम उसे ही छूने से क्यों घबराते हो ?

भाई ज़रा सोचो कि मरी हुई गौ, भैंस, बकरी, हरिण की खाल से जूती बैग आदि जिन जीवित शूद्रों ने बनाए हैं वे तो अछूत हो जाते हैं परन्तु चर्म-पादुकाएं तुम्हारे घर में जाती और तुम्हारे शरीर से लगी रहती हैं, तुम उन्हें पहनते और उतारते हो, चमड़े के बैग पास रखते हो, चमड़े की पेटियां और टोपियां पहनते हो । ये सब वस्तुएं किसने बनाई हैं ? मरी हुई गौ अछूत नहीं-उसको अपने शरीर पर पहिन कर रोटी तक खाते हो परन्तु जिस शूद्र ने उन वस्तुओं को बनाया है वह अछूत हो गया है ? विष्ठा खाने वाले बिल्ली कुत्तों को गोद में बिठाते हो, परन्तु सर्वोत्तम प्राणी 'मनुष्य' से घृणा करते हो । तुम्हारे व्यवहार में न तो तर्क है, न दया है, न धर्म है । इस कारण तुम्हारे दुर्व्यवहार से तंग आकर तुम्हारे धर्मवाले लोग विधर्मी हो रहे हैं । वे मुसलमान और ईसाई बन जाते हैं और तुम्हारे सिर पर सवार होते हैं । जब तक कोई शूद्र चमार, महार, मांग आदि रहता है तब तक तुम उसको कुत्ते से भी नीच समझते हो । परन्तु जब वह मुसलमान बनकर आपके पास आता है तो शेख़ साहब और ख़ानसाहब कहकर उससे हाथ मिलाते हो, यदि वह ईसाई बन जावे तो भी उसे मिस्टर टामस और विलियम और जोज़ कहकर हाथ मिलाते, घर में बिठाते और चायपानी पिलाते हो । तब तो ये लोग जूतियां लगाकर भी तुम्हारे कुओं से

पानी भर ले जाते हैं। जब मुसलमान और ईसाई जो वेद-ब्राह्मणों विरोधी हैं, जो हमारी सभ्यता और संस्कृति के नाशक हैं, जो हमारे धर्म के घातक हैं, उनको तुम अछूतों से अच्छा समझते हो तो अछूत क्यों मुसलमान ईसाई न बनें ?

"ऋषी मुनियों के बालक-दीनो ईमां खोते जाते हैं।
ये हिन्दू कौम की महशर के सामां होते जाते हैं"

देखो कैसा अनर्थ है? कोल्हापुर में कोई मनुष्य माँग महार के छूने को तय्यार नहीं। परन्तु एक मांग मुसलमान बनकर एक मराठा होटल में नौकर हो गया है और उसके हाथ की चाय, रोटी अब सब खा रहे हैं। सबको ज्ञात है कि मुसलमान होने से पूर्व वह मांग था। ऐसी अवस्था में यह नीच जातियों के लोग क्यों न मुसलमान बनें ?

कुतर्क, दुर्व्यवहार और दुराग्रह को छोड़ो। इन ६ करोड़ नीच जाति के लोगों को मनुष्य के अधिकार दो। उन से छूत छात मत करो। उनको कुओं पर से पानी भरने दो। उन्हें मन्दिरों में जाने देकर देवता पूजन से शाँति प्राप्त करने दो और उनकी उन्नति के सब प्रकार के साधन सोचो जिनसे वे उच्च और सच्चे हिन्दू बनकर गौ ब्राह्मण,-देवी-देवताओं के रक्षक बनें। वे मुसलमानों के आक्रमणों से तुम्हें बचावेंगे। तुम्हारी स्त्रियों, तुम्हारे बच्चों और तुम्हारी जान व माल के रक्षक होंगे। वे मुसलमानों का पूरा मुक़ाबिला कर सकेंगे। तुम्हारे अन्दर शारीरिक उत्साह, वीरता, निर्भयता नहीं रही-उनमें ये गुण पाए जाते हैं। वे तुम्हारे क्षत्रिय बनकर तुम्हारी सर्व प्रकार से रक्षा करेंगे। अतः उन्हें सहर्ष अपने साथ मिला लो, उन्हें गले लगा लो, उन्हें भाई और बन्धु समझो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।

अधिकार प्राप्ति और दलितोद्धार।

केवल मनुष्यता, दया, धर्म, समाज संगठन ही का तक़ाज़ा नहीं कि नीच जातियों का उद्धार किया जावे किन्तु राष्ट्र के उद्भव तथा विकास के लिए भी उनको समान अधिकार देना आवश्यक है।

आज़ अफ्रीक़ा, अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया के निवासी लोग हम भारतवासियों को मनुष्य के साधारण अधिकार देने से भी इन्कार करते हैं। हमें उन देशों में बसने की आज्ञा नहीं और जो भारतीय वहां रहते हैं उन्हें सब अधिकारों से वंचित रक्खा जाता है और उनके निवास के लिए नगरों और ग्रामों के बाहर अछूतों के समान रहने को स्थान नियत किये जा रहे हैं। दर्जनों डेपूटेशन इंगलैण्ड और इन देशों में जा चुके हैं, सैंकड़ों बार पत्रों में शोक प्रकट किया जा चुका है। हमारे महापुरुषों और नेताओं ने उपनिवेशों में रहने वाले भारतीयों के अधिकारों की रक्षा का तन-मन धन से यत्न किया है किन्तु प्रतिदिन अधिकाधिक अधिकार छीने जा रहे हैं।

हमारे साथ ऐसा वर्ताव होने पर क्या आश्चर्य हो सकता है ? हमारी सभ्यता, भाषा, हमारा धर्म और रहन-सहन अंग्रेज़ों से सर्वथा भिन्न है, कोई सम्बन्ध देश वा रक्त का नहीं। परन्तु दूसरी ओर हमारी नीच जातियाँ हैं जिन्हें हम ग्रामों के बाहर रखते हैं, जिनको हम अछूत कह कर तिरस्कार करते हैं, जिनको हम बाज़ारों में भी आने नहीं देते हैं, जो हमारी ही भाषा बोलते, हमारे धर्मको मानते, हमारी सभ्यता में रंगे हैं, हमारे रक्त से बने हैं, जिन के शरीरों में हमारे ही देश का जलवायु ओतप्रोत है, जो भारतमाता के पुत्र हैं—तथापि हम उन्हें कुत्तों के बराबर भी नहीं समझते। जब हम अपने ही देश में अपने ही भाइयों से ऐसा राक्षसीय बर्ताव

करते हैं तो क्या हम परायों से आशा कर सकते हैं कि वे हमारे साथ भाइयों का सा व्यवहार करें ? हम तो अपने भाइयों को कुत्ते समझते रहें और अन्य लोगों से यह आशा रक्खें कि वे हम विदेशियों और अपरिचितों को भाई मानें !!

" ई खयालऽस्तो मुहालऽस्तो जनूं । "

पहले इन छः करोड़ हिन्दुओं को अपनाओ। उन्हें अछूत, नीच. दलित, सभ्यता के क्षेत्र से बाहर, मनुष्य के अधिकारों से वञ्चित, और ग्रामों तथा निवासस्थानों से दूर दूर मत रक्खो। उन्हें अपने भाई समझो। उन्हें शिक्षा, सभ्यता, सुजनता, सुव्यवहार और धर्म के मार्ग पर चलाओ। उन्हें अपने समान बनाओ। सामाजिक भेद मत रक्खो। तो फिर विदेशी वाले तुम से ऐसा बर्ताव न करेंगे।

स्वराज्य-विरोधी दलित

छः करोड़ अछूत हिन्दू स्वराज्य के मार्ग में कण्टक हैं। जब तुमने इनको सैंकड़ों वर्षों से सामाजिक, व्यावहारिक तथा धार्मिक ही नहीं किन्तु सर्व मानुषिक अधिकारों से वञ्चित कर रक्खा है और स्वराज्य का आन्दोलन करते हुए भी उन्हें ये अधिकार देने को तैयार नहीं तो क्या विश्वास है कि तुम उनको स्वराज्य प्राप्त होने पर राष्ट्रिय अधिकार दे दोगे ? जो सामाजिक रूप से अस्पृश्य है, जो शिक्षा, व्यवहार, धर्म के विषय में रसातल तक पहुंचा हुआ है, उसको तुम राष्ट्रिय अधिकार दोगे ही क्योंकर ?

स्पष्ट है कि स्वराज्य में इन छः करोड़ जनों की उन्नति नहीं हो सकती। इस बात का क्या प्रमाण है कि स्वराज्य में प्राप्त शक्तियां इन दलितों को अधिकाधिक दलित करने में नहीं लगाई जावेंगी ?

अभी जब स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्न में इन नीच जातियों को ऊपर लाना नितान्त आवश्यक है, तुम उन्हें ऊपर नहीं उठने देते तो स्वराज्य मिल जाने पर तो कुछ भी न करोगे!

प्रत्येक अछूत तुम्हारे स्वराज्य के मार्ग में कण्टक है। छः करोड़ काँटे और गढ़े स्वराज्य प्राप्ति के सामने उपस्थित हैं। क्या तुम इनको साफ़ कर सकते हो, भर सकते हो। दो प्रकार हैं—या तो उनको हटा कर मुसलमान और ईसाई बना दो, या उनको उठा कर उनके कण्टकपन को दूर करदो। किस विधि को स्वीकार करोगे? हिन्दुओ! अपने बुरे-भले की पहिचान करो! तुम्हें स्वराज्य कभी नहीं मिल सकता और उस स्वराज्य में तुम्हें कभी आनन्द और सुख प्राप्त न होगा जिसमें इतने कोटि नर-नारी अमानुष जीवन व्यतीत करते हों। वे स्वराज्य को दुःखों की खान बना देंगे।

दलितों का राज्य

स्मरण रक्खो कि शूद्रों का युग आ गया है और आ रहा है। शूद्रों ने प्रत्येक देश में क्रान्ति आरम्भ करदी है। आज समस्त रूस में कि जो पृथ्वी का एक तिहाई भाग है शूद्रराज्य है। जैसे जैसे अत्याचार इन शूद्रों ने धनियों, भूमिपतियों, सेठों, व्यापारियों, पादरियों, प्रोफ़ेसरों तथा अन्य उच्च श्रेणियों के लोगों पर किये हैं क्या वे संसार को कभी भूल सकते हैं? हंगारी में शूद्रराज्य ने क्या २ अत्याचार और नाश किये हैं? एवं पोलैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी में भी शूद्रों का आधिपत्य बढ़ता जाता है। फ्रान्स तथा इंग्लैण्ड में मज़दूर लोगों और प्रजावादी मज़दूरों का राज्य है। अमेरिका में भी उनका बल बढ़ रहा है। किं बहुना, सभ्य संसार के किसी कोने में जाओ, शूद्रों का उदय हो रहा है। उनका स्वत्व राज्य पर बढ़ रहा है और वे धनवानों और उच्च वंशजों का गर्व तोड़ने में लगे हुए हैं।

क्या भारतवर्ष देर तक इस लहर से बचा रहेगा। मैं समझता हूं कि शीघ्र यह नदी उमड़ आवेगी। ४०-५० वर्ष के भीतर ऐसी बिकराल क्रान्ति इस देश में होगी कि धनिकों और उच्चवंशओं का संहार होगा और ये दलित जो पादाक्रान्त, अधिकार हीन, धनहीन और रोटी—कपड़े-जीविका से दुःखी हो रहे हैं, ज्वालामुखी पर्वत के समान उभर पड़ेंगे और अपने दुःखों को अत्याचारियों के रक्त से धोवेंगे और अपनी प्रतिहिंसा की पिपासा को उनके रक्त से बुझावेंगे। यह दृश्य मैं बड़े स्पष्टरूप से देख रहा हूं। ऊंचे महलों वाले शक्तिशालियों की शक्ति नष्ट हो जावेगी और अशक्त शूद्र शक्तिशाली हो कर संसार में राज्य करेंगे।

हिन्दूओ! तुम अभी से अपना कर्त्तव्य समझो और इन शूद्रों को अभी से पूरे अधिकार दो जिससे वे संतुष्ट हो कर शान्ति और प्रेमपूर्वक रहें।

हिन्दुओं का ह्रास

शुद्धि की महती आवश्यकता इस कारण भी है कि हिन्दुओं को ह्रास और मृत्यु से बचाने का यही एक उपाय है। जब से भारत सरकार की ओर से मनुष्यगणना होने लगी है तब से प्रत्येक धर्म वालों की वृद्धि और ह्रास का ठीक २ चित्र जनता के सामने आ जाता है। यदि ये संख्याएं न भी होतीं तो भी मुसलमानों और ईसाइयों की वृद्धि प्रत्येक नगर और ग्राम में स्पष्ट प्रतीत हो रही है। हमारे देखते देखते ईसाइयों की बस्तियों पर बस्तियां बढ़ती जाती हैं और हिन्दुओं के दल के दल मुसलमान होते जाते हैं। चालीस वर्ष पूर्व कोल्हापुर में एक भी ईसाई मिलना कठिन था, आज समस्त राज्य में ईसाई भरे हैं। कितने ही ग्रामों में ईसाई ही ईसाई दृष्टि आते हैं। पूर्वीय बङ्गाल में १०० सौ वर्ष पूर्व बहुत थोड़े मुसलमान थे किन्तु अब कितने ही ग्राम ऐसे हैं जिनमें एक

भी हिन्दू बनाना नहीं है, ब्राह्मण तक मुसलमान बन गये हैं। मद्रास में ईसाइयत कैसे बढ़ रही है, पञ्जाब में उन का कार्यक्षेत्र कितना बढ़ता जाता है, किस प्रकार प्रतिदिन हिन्दूलोग मुसलमान या ईसाई हो रहे हैं ये बातें हम से छिपी नहीं, परन्तु उनकी मात्रा का ठीक अनुमान नहीं।

हिन्दू-मुसलमानों की तुलना

तीस वर्षों की कथा आपके सामने रक्खी गई है। इससे पता लगेगा कि हिन्दू घटते गये हैं और इसी समय में मुसलमान बढ़ते गये हैं परन्तु ईसाई लोग सर्वाधिक वृद्धि के मार्ग पर दौड़ते गये हैं। अब हम आगे दृष्टि उठाते हैं और पता लगाना चाहते हैं कि पिछले दस वर्षों में हिन्दुओं ने अपनी वृद्धि का कुछ यत्न किया है या नहीं। गणना-रिपोर्ट से विदित होता है कि हिन्दू लोग कुम्भकर्ण की निद्रा में सोते रहे हैं, उन्हें अपने भले-बुरे का कोई विचार नहीं हुआ। वे १९११ से १९२१ तक के दस वर्षों में भी घटते ही गये हैं। उनकी संख्या बढ़ने की अपेक्षा घटी है। ठीक २ संख्याएं ये हैं-

	१९११	१९२१	प्रतिशत वृद्धि या ह्रास
हिन्दू	२१, ७५, ८६, ९२०	२१, ६२, ६१, ०००	—·४
मुसलमान	६, ६६, २३, ८१२	६, ८७, ३५, ०००	+५.१
ईसाई	३८, ७२, ९२३	४७, ५६, ०००	+२२.६

उक्त संख्याओं से स्पष्ट है कि इन दस वर्षों में हिन्दू बढ़ने के स्थान पर १३ लाख घटे हैं किन्तु इतने ही दिनों में मुसलमान २१ लाख बढ़े हैं और ईसाई जो संख्या में बहुत थोड़े थे ९ लाख के लगभग बढ़ गये हैं।

माना कि इन वर्षों में इन्फ़लूयञ्ज़ा ज्वर से ६० से ८० लाख के लगभग नर-नारी यमलोक सिधार गये, किन्तु यदि हिन्दू लोग अन्यों की अपेक्षा अधिक मरे तो स्पष्ट है कि उन्हें रोग अधिक लगते

हैं, वे शीघ्र मृत्यु का कवल बन जाते हैं। यदि हिन्दुओं में ईसाइयों और मुसलमानों की सी जीवित रहने की शक्ति होती तो उनके समान हिन्दू भी बढ़ते। परन्तु वास्तव में उन धर्मावलम्बियों ने उन्नति की है, हिन्दुओं ने ही अवनति का मुख देखा है।

हमने गत चालीस वर्षों की दशवार्षिक पत्री तो देखी है और उसके खण्ड २ से अवनति का चित्र सामने आता है-परन्तु १८८१ से १९२१ तक के चालीस वर्षों में प्रतिसहस्र हिन्दू और मुसलमानों की संख्याएं कैसी रही हैं यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए:-

		१८८१	१९२१
प्रति १०००	हिन्दू	७४३	६८४
	मुसलमान	१९७	२१७

अर्थात् १८८१ में यह दशा थी कि अपने देश के १००० निवासियों में ७४३ हिन्दू थे। चालीस वर्ष बीतने पर बढ़ने अथवा समान रहने की अपेक्षा वे घटते गये हैं। यहाँ तक कि अब उनकी संख्या प्रतिसहस्र ६८४ रह गई है अर्थात् १००० निवासियों में से ५९ हिन्दू कम हो गये हैं। मुसलमान लोग इस समय में १००० पीछे २० वृद्धि दिखा रहे हैं। तीनों धर्मों की वास्तविक वृद्धि और प्रातिशतक उन्नति का विवरण आंखे खोलने को पर्याप्त होगा। ४० वर्षों की वृद्धि इस प्रकार हुई है—

	वास्तविक वृद्धि	प्रतिशत वृद्धि
हिन्दू	२८, २२४	१४. ९
मुसलमान	१८,०१४	३७. १
ईसाई	२, ८९२	१५५

अब पता लगा होगा कि उक्त ४० वर्षों में आर्य सन्तान ने १५ पग आगे उठाए हैं, परन्तु मुसलमानों ने ३७ क़दम और ईसाइयों ने १५५ बढ़ाए हैं अथवा यों कहिये कि ४० वर्षों में हिन्दू तो १०० से ११५ हो गये, परन्त इतने ही काल में मुसलमान १०० से १३७ और

ईसाई १०० से २५५ हो गये। हिन्दुओं की सुस्त चाल का ईसाइयों की दौड़ के साथ क्या मुक़ाबला हो सकता है? किसी रूप में इस प्रश्न को देखिए, स्पष्ट दृष्टि आवेगा कि हिन्दू पीछे पड़ते जाते हैं।

यदि बड़े २ प्रान्तों पर दृष्टि डालें और हिन्दू मुसल्मानों की वृद्धि की मात्राओं को देखना चाहें तो विस्मय में डालने वाले वृत्तांत दृष्टिगोचर होंगे। १८८१ से १६२१ तक उक्त दो धर्मावलम्बियों की वृद्धि इस प्रकार हुई है—

	हिन्दू	मुसल्मान
आसाम	३४	६७
बङ्गाल	१७॥	४१
बिहार व उड़ीसा	१४	२
मध्यप्रदेश व बरार	१७	२१॥
मद्रास	१८	३१॥
पंजाब	१/१०	२६
संयुक्त प्रान्त	२॥	८

केवल बिहार-उड़ीसा में मुसल्मान कम बढ़े हैं नहीं तो शेष ६ प्रान्तों में वे हिन्दू जाति की अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं। संयुक्त प्रांत में लगभग चार गुने बढ़े, बंगाल में दो गुनी वृद्धि हुई, मद्रास, आसाम आदि में तेज़-रफ़्तारी दिखाई—परन्तु पंजाब की गति विचित्र है कि जहां हिन्दू ज़रा भी नहीं बढ़े वहां मुसल्मान १०० की अपेक्षा १२६ हो गये। ये संख्याएं इस बात की साक्षी हैं कि मुसल्मान बाज़ी जीतते जाते हैं और हिन्दू उनके मुक़ाबले में मर रहे हैं। उसपर भी तुर्रा यह कि हिन्दू उफ़ तक नहीं करते।

ह्रास के कारण।

हिन्दुओं के ह्रास के बहुत से कारण हैं और उनमें से प्रत्येक की व्याख्या की आवश्यकता भी है-परन्तु यहाँ उन कारणों का

दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है। पाठक स्वयं उनपर विचार करें।

(१) हमारे अत्याचारों के कारण हमारी 'नीच जातियां' मुसल्मान ईसाई बन कर हमारी संख्या को दिन प्रतिदिन घटा रही हैं।

(२) हम में 'विधवा-विवाह' न होने के कारण हमारी विधवाएं मुसल्मानों और ईसाइयों के हाथों में पड़ती हैं। हिन्दूधर्म से छुटकारा पा कर ही वे सांसारिक सुख का भोग कर सकती हैं, पर हिन्दूधर्म में रहते हुए वे अत्यन्त दुःखमय जीवन व्यतीत करती हैं। अतः जब तक विधवा-पुनर्विवाह का पूरा प्रचार न होगा तब तक हमारी विधवाएं मुसल्मानी धर्म को धारण करती जावेंगी।

(३) विधवा-विवाह न होने से ही हमारे "बच्चों की संख्या" कम होती है। इस समय १५ से ४० वर्ष तक की आयु वाली जो सात लाख विधवाएं हैं वे सब बन्ध्या हो रही हैं। वे सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकतीं। अर्थात् लाखों घराने वीरान हो जाते हैं। मुसल्मान और ईसाई लोगों में विधवाविवाह होने से उनकी पूरी स्त्रियां बच्चे पैदा करती हैं, परन्तु हम अपनी विधवा लड़कियों का पुनर्विवाह न करके बच्चों की उत्पत्ति में कमी कर रहे हैं। ७ लाख घराने आबाद होकर कम से कम "तीन करोड़ हिन्दू जन संख्या बढ़ा सकते हैं"।

(४) "विधवाओं का विवाह न होने और छोटी आयु में विवाह होने से "स्त्रियों की संख्या कम हो जाती है"। बहुत से पुरुषों को स्त्रियां नहीं मिल सकतीं, अतः वे "अविवाहित रह जाने से सन्तानोत्पत्ति नहीं कर पाते"। दूसरी ओर मुसल्मान बहु-स्त्री विवाह करके बहुत से बच्चे पैदा करते हैं। इस कारण भी हिन्दुओं की अपेक्षा मुसल्मान सदैव अधिक सन्तान पैदा करेंगे।

(५) विवाह में जाति-बन्धन, लड़की या लड़के के लिए धन लेना, और विवाहों पर बहुत सा धन व्यय करना इन का परिणाम

यह होता है कि "विवाहों की संख्या कम होने से कम सन्तान पैदा होती हैं"।

(६) "हिन्दू अधिकतर नगरनिवासी और मुसलमान ग्राम वासी हैं"। नगरों में सन्तानोत्पत्ति की मात्रा कम और ग्रामों में अधिक होती है। इस कारण भी अन्तर बढ़ जाता है। एवं नगरों में मृत्यु की मात्रा अधिक और ग्रामों में कम है, इससे भी हिन्दू अधिक मरते हैं। जब, मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू कम मात्रा में उत्पन्न होते और अधिक मात्रा में मरते हैं, तो उनकी वृद्धि मुसलमानों से निसर्गतः कम होगी।

(७) "हिन्दू लोगों के पेशे बैठे रहने के और मुसलमानों के कड़ी मेहनत कराने वाले हैं"। यथा–हिन्दू दूकानदार इत्यादि हैं, मुसलमान तरखान, लोहार, मेमार, जुलाहे, मज़दूर, कृषक हैं। इस से उनका शारीरिक बल बना रहता है और वे अधिक काल तक जीते रहते हैं।

(८) "मुसलमानों का भोजन हिन्दुओं से अच्छा है"। वे जो कुछ कमाते हैं भोजन पर व्यय करते हैं, पर हिन्दू विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों पर ख़र्च करने के लिए बचाते रहते हैं और उनके शरीर को पौष्टिक भोजन नहीं मिलता।

(९) हिन्दुओं में शारीरिक बल की वृद्धि के लिए "कोई व्यायाम वा समय नहीं"। हिन्दू दूकानदार या साहूकार प्रातःकाल से ११ वा १२ बजे रात्रि तक दूकान पर बैठता है, भोजन असमय करता है और छुट्टियां नहीं मनाता। मुसलमान सप्ताह में एक छुट्टी जुम्मे की मनाता और प्रतिदिन भी कुछ न कुछ समय मनोविनोद को देता है। इस कारण उसकी शारीरिक अवस्था अच्छी रहती है।

उक्त कारणों का सामूहिक परिणाम स्पष्ट है कि मुसलमान अधिक संख्या में बच्चे पैदा करते हैं और उनमें मृत्यु संख्या भी

हिन्दुओं से कम होती है। अतः वे सदैव हिन्दुओं की अपेक्षा तब तक जीत में रहेंगे, जब तक हम ह्रास के उक्त शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक कारणों को दूर न करेंगे। मुसलमानों के समान जन-संख्या तो हम कभी नहीं बढ़ा सकते, परन्तु जब वे हमारी नीच जातियों और विधवाओं को मुसल्मान बनाते हैं तो यह कुठाराघात हिन्दू जाति सहन न कर सकेगी।

महाशोक है! कि हिन्दू जाति एक ऐसी बत्ती के समान हो रही है जो दोनों सिरों पर भी जल रही है और बीच में भी जिसे आग लगी हुई है। ऐसी बत्ती देर तक नहीं चल सकती। एक ओर से ईसाई और दूसरी ओर से मुसल्मान हिन्दू जाति को खा रहे हैं। बीच में उसके ऐसे निकम्मे रीति-रिवाज और सामाजिक बाधाएं हैं जैसे विधवा का पुनर्विवाह न होना इत्यादि, जिनसे वह स्वयं भीतर से खोखली होती जाती है। मित्रो! बताओ ऐसी जाति के जीने की क्या आशा हो सकती है। यदि हम अपनी नीच जातियों और विधवाओं को इनके घोर आक्रमणों से बचालें और इन नीच जातियों को सामाजिक व आर्थिक रूप में उन्नत कर दें तो वे हमारी यथेष्ट बलवृद्धि करेंगी और साथ ही हम पूर्वोक्त बाधाओं को हटावें तो हमारी शारीरिक अवस्था भी अच्छी हो सकेगी और हम सम्भवतः मुसल्मानों का मुक़ाबला कर सकेंगे। तीसरे जब हम मुसल्मान ईसाइयों को भी हिन्दू बनावेंगे तो देने के बदले लेने लगेंगे। तब कहना ही क्या है? शुद्धि हमारे जातीय जीवन की रक्षक होगी।

देने के लेने

अब तक मैं दिखा चुका हूं कि हिन्दुओं को उचित है कि वे प्रत्येक साधन अपनी नीच जातियों तथा विधावओं के बचाने का

करें और उन्हें अन्य धर्मों में न जाने दें। अब यह कहना है कि हमें अपने बिछुड़े भाई बहिनों को वापिस लेना चाहिये। अब तक हिन्दू हमारे अत्याचारों या अपनी भूलों से ईसाई और मुसलमान होते रहे हैं। यही कारण है कि १८८१ में समस्त देश में १८ लाख ईसाई थे परन्तु १९२१ में वे ४७ लाख हो गये। इनमें से लाखों ईसाई हिन्दू धर्म में वापिस आने को तय्यार हैं यदि हम उन्हें लेने को उद्यत हों और साथ ही ईसाइयों के पञ्जे से छुड़ाने का यत्न करें।

इसी प्रकार भारतवर्ष के बाहर से अधिक से अधिक १०-१२ लाख मुसल्मान इस देश में आये होंगे, बाक़ी तो यहीं से बढ़ते हुए चले गये हैं। वे हम से जुदा हुए हमारे ही जिगर के टुकड़े हैं। यदि वे हिन्दूधर्म में वापिस आना चाहें तो कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त देश के बहुत से भागों में ऐसे लोग हैं जो कुछ अंशों में मुसलमान पर अधिक अंशों में हिन्दू हैं उन्हें भी वापिस लेने का यत्न करना चाहिये।

कर्णाटक में सुलतानी मुसल्मान हैं जिन्हें टीपू सुल्तान ने बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट करके मुसलमान बनाया था। वे अभी तक तीन-चौथाई अंश में हिन्दू हैं। बाहर से तो कोई भेद ही नहीं, केवल विवाह आदि संस्कारों में वे कुछ रस्में मुसलमानों की करते हैं। ऐसे सुल्तानी मुसलमान हैं जो मांसाहारी भी नहीं। एवं गुजरात में सहस्रों लोग हैं जिनके नाम भी हिन्दू हैं और जो बहुत सी रस्में हिन्दुओं ही की करते हैं, परन्तु उन्हें वापिस लेने का कोई यत्न नहीं किया गया।

संयुक्त प्रान्त और राजपूताना में नव-मुस्लिम परिवारों की बहुत बड़ी संख्या है। बंगाल में तो पिछले दो सौ वर्षों से मुहम्मदी

धर्म फैल रहा है-सहस्रों कच्चे मुसलमान होंगे। सिन्ध में भी यही दशा है। और काश्मीर तो बलात्कार मुसलमानी बादशाहों द्वारा मुसलमान किया गया है।

इन सब इलाकों में प्रचार होना चाहिये और हिन्दू सभा वा आर्यसमाज की ओर से उन्हें वापिस लाने का यत्न करना चाहिये। जहां मुसलमान हिन्दुओं को मुसलमान बना रहे हैं वहां इन अर्ध-मुस्लिमों या कच्चे हिन्दुओं को भी पक्का मुसलमान बनाते हैं। गुजरात में आग़ाख़ानी लोगों ने बड़े विचित्र ढंगों से मुसलमानी प्रचार में बल लगाया हुआ है। उत्तर भारत में ख़्वाजा हसन निज़ामी के दल ने तूफ़ान मचाया हुआ है। देश में स्थान २ पर मुसलमान प्रचारक हिन्दू बालक-बलिकाओं, विधवाओं और दलितों को फुसलाने में लगे हुए हैं।

कर्णाटक में एक मुसलमान धूर्तता से अपने को लिंगायतों का गुरु प्रसिद्ध करके उनको मुसलमान बना रहा है और लोगों की आंखों में धूल डाल रहा है। उसने अपना नाम चंबट बसवाना रक्खा हुआ है। उधर से आग़ाखां अपने आपको (कलियुग में गोमांस खाने वाला) कृष्ण का अवतार बता रहा है और इस तरह भोले भाले हिन्दुओं को विधर्मी बना रहा है।

मुसलमानों ने यह समझ लिया है कि धर्म के प्रचार में हिन्दुओं से उनका संग्राम है और इस युद्ध में (Everything is fair in love and war) वे किसी भी रीति के प्रयोग से नहीं टलते-यह बात ख़्वाजा हसन निज़ामी की पुस्तक से ही सिद्ध है।

(४) क्या मुसलमानों का कोप (विरोध) मिटाने का कोई उपाय है ?

प्रश्न है कि हमारा क्या कर्तव्य है? मेरे विचार में हमें दो सिद्धान्तों पर काम करना चाहिए।

(१) हमें सर्व प्रकार से यत्न करना चाहिए कि मुसलमानों और ईसाइयों की स्वतन्त्रता को न रोक कर उनके साथ प्रेमपूर्वक रहें। यदि यह यत्न सफल न हो तो निम्नस्थ सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहिए।

(२) लोहा ही लोहे को काट सकता है (The best method of defence is offence)।

प्रथम सिद्धान्त अर्थात् हिन्दू मुस्लिमों के प्रेम को स्थिर रखने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं —

(१) मेम्बर चुनने के लिए आजकल के संख्याधिक्यनियम Majority rule) के स्थान पर प्रातिनिध्य (Proportional Representation) का नियम काम में लाया जावे।

इस नियम के अनुसार यदि देश की धर्मव्यवस्थापक सभा (Legislative Assembly) में सब हिन्दुस्थान के लिए चार सौ मेम्बर हिन्दू-मुसलमानों के होने हैं तो ३०० हिन्दू मेम्बर होंगे और एक सौ मुसलमान अवश्य होंगे। यह संख्या उनकी सामूहिक जातीयता के अनुसार है। परन्तु संख्याधिक्यनियम में मुसलमानों के कम मेम्बर होना बहुत संभव हैं॥ यह नियम प्रान्तीय कौंसिलों और म्यूनीसिपल कमेटियों में बर्तना चाहिए।

(२) मत (vote) देने के अधिकार हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए समान हों-बल्कि इस विषय में धर्म-पन्थ का विचार ही न हो। जो लोग किन्हीं ख़ास शर्तों को पूरा करें, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, उनको वोट देने का अधिकार होना चाहिये। चूँकि मुसलमान कम शिक्षित और कम धनी हैं, इसलिए वोट देने के अधिकार के लिए ऐसे नियम बनाए जावें कि हिन्दू ही सब वोटें न हड़प सकें।

(३) हिन्दू-मुसलमानों व अन्य जातियों को जाति-भाषा-धर्म निरपेक्ष नागरिक तथा राष्ट्रिय अधिकार प्राप्त हों।

(४) धर्मापेक्षा-रहित सब लोगों को सरकारी नौकरी, उपाधि, व्यवसाय इत्यादि के समान अधिकार प्राप्त हों।

(५) प्रत्येक जाति के लोगों को अपनी भाषा के पूर्ण व्यवहार करने का अधिकार हो अर्थात् अपनी धार्मिक बातों, पत्रों, पुस्तकों, सभाओं इत्यादि में सब अपनी २ भाषा का बिना रोकटोक व्यवहार कर सकें।

(६) प्रत्येक जाति के लोगों को इच्छानुसार अपने व्यय से स्कूल, मकतब, कालेज, इत्यादि तथा सराएं, धार्मिक व सामाजिक संस्थाएं और अन्य सभाएं बनाने का पूरा अधिकार हो। प्रत्येक मनुष्य को अपने २ धर्म के चलाने का अधिकार हो और अपनी भाषा और रस्म-रिवाज बर्तने की स्वतन्त्रता हो।

(७) प्रत्येक जाति की ओर से जो स्कूल, कालेज इत्यादि शिक्षण शालाएं खोली जावें उनको चलाने के लिए सरकार की ओर से राजनियमानुसार सहायता दी जावे।

(८) बलात्कार धर्मच्युत वा जातिच्युत करने की सब रीतियां पूर्णतः निषिद्ध हों, इस नियम को भङ्ग करना जुर्म होगो।

यदि ऐसे नियमों से मुसलमानों की उन्नति का मार्ग खोला जावे तो उन्हें कोई आपत्ति हिन्दुओं के साथ मिलकर रहने में न होनी चाहिये। आशा है कि इन तजवीजों पर हिन्दू-मुस्लिम समाचार पत्र अपना २ मत प्रकट करेंगे, और जो दोष इस में प्रतीत होते हों उनको सामने लावेंगे ताकि इस कठिन समस्या के सुलझाने का सच्चा प्रयत्न हो सके।

यदि इन विधियों से भी दोनों की सन्धि न हो और मुसलमान अपने कुटिल प्रचार से बाज़ न आवें तो हमें दूसरा सिद्धान्त बर्तना चाहिये। मुझे अत्यन्त शोक होगा कि हम हिन्दुओं को इस रीति का आश्रय लेना पड़े, परन्तु "मरता क्या न करता",

वाला सिद्धान्त यहां काम करेगा। छोटा सा कीड़ा भी दबने पर डङ्क मारता है। गौ जैसी दया की मूर्ति भी आक्रमण किये जाने पर मुक़ाबला करती है। फिर हम तो मनुष्य हैं, हम में स्वाभिमान का भाव है। क्या विधर्मी लोग हमारी सभ्यता, संस्था, शक्ति और संख्या का संहार करते जावें और हम शान्त होकर बैठे २ देखा करें? नहीं, महात्मा गान्धी जी भी ऐसी अहिंसा का उपदेश नहीं करते।

कहा जावेगा कि इससे देश में झगड़े, फ़साद, लूट, खसोट, मारधाड़ की वृद्धि होगी, हिन्दू-मुसल्मान दो विरोधी दलों में विभक्त हो कर धार्मिक युद्ध किया करेंगे, समस्त देश में अशान्ति होगी। और साथ ही हिन्दू हर स्थान पर मार खाते रहेंगे, उनके जान माल की रक्षा नहीं हो सकती। यह सब ठीक है परन्तु जब हिन्दुओं के यत्नों पर पानी फिर जावे और मुसल्मानों के धार्मिक जोश को कोई साधारण साधन शान्त न कर सकें, तो अपनी रक्षा हिन्दुओं को अवश्य करनी पड़ेगी। मुसल्मान नेता कहते हैं कि जनता उनका कहना नहीं मानती, इससे बल पाकर जनता तो हिन्दुओं को हानि पहुंचाने वाला अपना काम करती ही जावेगी, तो उनको कैसे बन्द किया जावे?

हमारे हिन्दू नेता कांग्रेस के भी नेता हैं। कांग्रेसी होने से वे हिन्दू-मुस्लिम संगठन चाहते हैं और ऐसी इच्छा हर एक की होनी चाहिये। परन्तु हिन्दुओं की रक्षा और वृद्धि जिन साधनों से हो सकती है, उन्हें खुल्लमखुल्ला कहने से वे घबराते हैं। अतः हिन्दू-संगठन पृथक् होना चाहिये और वह हिन्दू जाति की रक्षा तथा वृद्धि के साधनों का प्रचार करे।

संग्रामों से हमें घबराना नहीं चाहिये। संग्रामों से ही हम में वीरता और मुसल्मानों के मुक़ाबले की शक्ति आवेगी। जब मुसल्मानों की शक्ति अपरिमित थी तब उनके मुक़ाबले के लिए सिक्ख तथा मराठे पैदा हो गये थे। अब भी जब उनके अत्याचारों और

बलात्कारों से हिन्दू जाति की जागृति होगी तो अवश्य कोई और पैदा होगा। दश बीस वर्ष के लिए यह भारतभूमि पारस्परिक युद्धों से अशान्त होगी, तो होने दो-क्योंकि अन्य कोई चारा नहीं। परन्तु फिर दोनों धर्म शान्ति से रहने लगेंगे और जैसे हर एक तूफ़ान के बाद शान्ति होती है, वैसे यहां भी शान्ति और प्रेम का राज्य होगा।

यूरोप में सैंकड़ों वर्षों तक धार्मिक युद्ध रहे। जर्मनी में तीस वर्ष तक कैथोलिक्स और प्रोटेस्टैण्टों में घोर संग्राम हुए परन्तु इनके पश्चात् वे शान्ति से रहना सीख गये हैं। इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में धार्मिक युद्धों की कमी नहीं रही। परस्पर के युद्धों से यह सिद्ध नहीं होता कि हम स्वराज्य के योग्य नहीं।

हमें आशा करनी चाहिये कि हिन्दू मुस्लिम और ईसाई इस मातृभूमि के पुत्र होते हुए एक दूसरे की धार्मिक स्वतन्त्रता पर आघात नहीं करेंगे और एक दूसरे के धर्म परिवर्तन करने में घृणित साधनों से बाज़ रहेंगे, एवं धार्मिक प्रश्नों पर वे सहिष्णुता (toleration) का प्रमाण देंगे। हिन्दुओं को अपनी शारीरिक और सामाजिक निर्बलताओं के दूर करने में तत्पर हो जाना चाहिये और अपना दृढ़ संगठन करना चाहिये। अपने बालक बालिकाओं की वे रक्षा करें और अपने छः करोड़ दलित भाइयों को ऊपर उठावें। मुसलमानों से भी यही प्रार्थना है कि वे धर्मान्ध (fanatic) और बलवाई (riotous) भाव (spirit) त्याग करें। स्त्रियों का अपमान और देवी-देवताओं को अपवित्र करना छोड़ दें और छोटी छोटी बातों पर आगबगूला न हो जाया करें। हम सदैव स्मरण रक्खें कि हम भारतवासी भारतभूमि के पुत्र हैं। अतः धर्म की भिन्नता से भ्रातृभाव और प्रेम में भेद नहीं आना चाहिये। हम सब प्रेम, अहिंसा, शान्ति के स्वराज्य में रहकर सुख-सम्पत्ति- समृद्धि के भागी बन सकते हैं ॥ इति शम् ॥

ओ३म्

" मोक्ष "

और

उसका प्राप्ति के साधन।

(श्रीयुत पं० बाल कृष्ण शर्म्मा - बंबई)

संसार में जितने व्याख्येय विषय हैं, उन सबों में परोक्ष होने से मोक्ष अतीव सूक्ष्म है। मोक्ष शास्त्र अथवा ब्रह्मनिष्ठ मुक्त इन दोनों की अथवा इनमें से एक की भी सहायता लिए बिना लिखना साहसमात्र होगा। मोक्षानन्द के विषय में लिखते हुए वेदान्त में लिखा है कि:—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा, स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

समाधि से सब दोषों से रहित होकर मोक्ष का अधिकारी मनुष्य बनता है, उस समय उसके अन्तःकरण में जो सुख होता है, उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता किंतु मोक्षाधिकारी मनुष्य का अन्तःकरण ही उसका अनुभव कर सकता है। वेदान्त यह भी कह रहा है कि जिस ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है उसका उपदेष्टा मिलना कठिन है। क्योंकि 'आश्चर्योऽस्य वक्ता'। उपनिषद् कहती है कि उस अचिन्त्य स्वरूप ब्रह्म का उपदेश करने वाला प्राप्त होना बड़ा आश्चर्य है। मोक्ष अथवा ब्रह्म की प्राप्ति यह विषय अतीन्द्रिय होने से केवल बुद्धिग्राह्य है। इसके जैसा गहन विषय और कोई नहीं, यह हम लिख आए हैं। अपनी आज तक की आयु में प्राप्त हुआ संसार का अनुभव, और मोक्षशास्त्र या वेदान्त ग्रन्थों का

अवलोकन, इन दोनों की सहायता से हमने ऐसे गहन विषय पर लिखने का साहस किया है।

'मोक्ष और उसकी प्राप्ति के सधान' इस विषय पर लिखने से पूर्व प्रथम इस बात का विचार कर्तव्य है कि मोक्ष किस को कहते हैं और किस वस्तु से पृथक् हो जाने वा छूट जाने से मोक्ष• कहाता है ? 'मोक्ष अवसाने' इस चुरादिगणके धातु से अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'मोक्ष' शब्द सिद्ध होता है। 'मोक्षयन्ति समाप्नुवन्ति दुःखानि यस्मिन्निति मोक्षः,' जिसमें दुःख समाप्त हो जाते हैं उसको 'मोक्ष' कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग, निःश्रेयस, निर्वाण और कैवल्य यह सब मोक्ष के ही नाम हैं। उन सबों का अर्थ दुःख से छूट कर आनन्द को प्राप्त होना वा करना हैं। दूसरा विचारणीय विषय यह है कि जिस वस्तु से छूटने से मोक्ष कहाता है वह वस्तु कौनसी है? इसका उत्तर है कि वह वस्तु प्रकृति अथवा प्रकृति जन्य संसार है। वेद में भी कहा है कि:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँरताः ॥
यजु० अ० ४० ॥ ९ ॥

जो कभी उत्पन्न न होने वाली प्रकृति अर्थात् इस संसार के उपादान कारण में रत हैं वे अज्ञान अंधकार में गिरकर दुःख भोगते हैं। और जो संभूति अर्थात इस कार्य जगत् में रत हैं, वे उनसे भी अधिक दुःख सागर में डूबते हैं।

प्रकृति और प्रकृतिजन्य संसार से ही नानाविध जन्ममरणादि दुःख प्राप्त होते हैं। यह बात युक्ति और प्रमाण से निर्विवाद हो चुकी है। न्यायदर्शन में बारह प्रमेय गिनाए हैं, उनमें दुःख भी है। दुःख विषय में लिखते हुए न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायनजी लिखते हैं :—

दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते । समाहितो भावयति । भावयन्निर्विद्यते । निर्विण्णस्य वैराग्यम् । विरक्तस्यापवर्गः ॥ वात्स्यायनभाष्यम् ।

दुःख कहां से आता है इस बात का विचार मनुष्य को सावधान चित्त होकर करना चाहिये ऐसा कहा गया है। सावधान चित्त वाला ही मनुष्य दुःख कहां से आता है इस बात का विचार करने लगता है। विचार करने वाले को जिससे दुःख प्राप्त होता है, उस वस्तु से उदासीनता हो जाती है। उदासीन को ही उस वस्तु में वैराग्य अर्थात् प्रेम का अभाव हो जाता है और विरक्त पुरुष को अपवर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। संसार में छोटे से छोटा भी कार्य करना हो तो जो अधिकारी होगा वही उस कामको कर सकता है। तब मोक्ष प्राप्ति जैसे दुष्कर कार्य को बिना अधिकारी के दूसरा कौन कर सकता है ? इसीलिए मोक्षशास्त्र पढ़कर मोक्ष प्राप्त करने के पूर्व मनुष्य को विवेक, वैराग्य, षटसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न बनकर अधिकारी बनना चाहिये। उपर्युक्त साधनों से जो सम्पन्न न हो वह मनुष्य मोक्ष का अधिकारी ही नहीं यह निश्चय समझिये।

जब विवेकी मनुष्य इस संसार की तरफ़ देखता है, तब उसे संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख प्रतीत होता है, सुखका कहीं लेशभी नहीं जान पड़ता। योगदर्शन में पतञ्जलिजी ने भी लिखा है कि:—

> परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । योगदर्शने ॥

परिणामादि दुःखों से और गुण वृत्तियों के विरोधसे विवेकी मनुष्य को सब दुःख ही संसार में दीखता है। ऐसे इस दुःखमय संसार का अनुभव करता हुआ एक विवेकी कहता है:—

कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सारमार्गणम् ।
यः करोति स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥

जैसे कोई मनुष्य, इसमें कुछ सार निकलेगा इस इच्छा से केले के वृक्ष के वक्कल उधेड़ने लगे तो वक्कल ही वक्कल निकलते जाते हैं, उसको सारका कहीं पता नहीं लगता, वैसे ही जल फेन के समान इस निःसार और अनित्य संसार में जो सारकी खोज करता है उसको सारका लेशभी नहीं मिलता। इसलिए कवि स्पष्ट कहता है कि इस असार ससार में सारका अन्वेषण करने वाला मनुष्य मूढ है।

महर्षि वात्स्यायनजी ने संसार की व्याख्या की है कि 'इच्छा-द्वेषादयः अविच्छेदेनवर्तमानः संसारः।' अर्थात् जिस में इच्छा-द्वेषादि सदा मनुष्य के पीछे लगे रहते हैं उसका नाम संसार है। इस संसार को किसी ने समुद्र की, किसी ने भयंकर नदी की, किसी ने सिंहव्याघ्रादि हिंसक पशुओं से युक्त भयङ्कर अरण्यकी अनेक उपमाएं दी हैं।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ महाभारते ॥

जो मनुष्य अत्यन्त मूढ है और जो बुद्धि के पार गया हुआ विद्वान है, ऐसे दोनों ही मनुष्य सुख बढ़ाते हैं। इन दोनों दशाओं के अंदर रहने वाला मनुष्य सदा दुःखी देखा जाता है। जिनसे संसार का मोह छूट नहीं सकता वे ऐसा पांडित्य करते हैं कि अजी केवल मुक्ति के ही पीछे पड़े रहना यह मनुष्य की अनुदारता है संसार में रहने वाला परोपकार करे, इसी में उसका संसार सफल है। परन्तु संसार के स्वरूप को जान कर जिसको इससे पूर्ण वैराग्य हुआ है, उसके लिए यह पाण्डित्य निष्फल है। एक ही

वस्तु बुद्धिभेद से दो प्रकार की हो जाती है। इसके लिए हम एक दृष्टान्त देते हैं:—

बम्बई जैसे नगर में एक श्रीमान् ने दश लक्ष रुपये खर्च करके एक मकान अपने निवास के लिए बनवाया। उसमें नाना प्रकार की सुन्दर वस्तुएं रक्खी गईं और आस पास बड़ा ही मनोहर बगीचा भी बनवाया गया। एक दिन श्रीमान् सेठ जी का मित्र सेठ जी के पास आकर कहने लगा कि सेठ जी! इस मकान से तो समुद्र के तट पर म्युनिसिपैलिटी ने जो कुटियां बनाई हैं स्वास्थ्य के लिए वे अच्छी हैं। सेठ जी हंसकर मनमें ही कहने लगे कि यह मेरा मित्र मालूम होता है कुछ पागल हो गया है। उस समय तो मित्र चला गया। फिर दूसरी वार वही मित्र सेठ जी को मिलने आया। आते ही उसने कहा कि सेठ जी! आपके मकान की सीढ़ियों पर प्लेग से मरा हुआ एक चूहा पड़ा है। यह सुनते ही सेठ जी कहने लगे कि मित्र! उस दिन आपने कुटियाँ कही थीं वे कहां हैं? मैं सब परिवार सहित आज ही उनमें रहने के लिए जाना चाहता हूं।

यहां मकान रूप एक ही वस्तु विचार भेद से दो प्रकार की होगई। जिस मकान से सेठजी का अत्यन्त मोह था वही मनोहर मकान प्लेगदूषित जानकर उनको उससे क्षणभर में वैराग्य उत्पन्न हो गया, और कुटियों से प्रेम हो गया। सेठ जी ने जान लिया कि अब यदि मैं इस मकान का मोह पकड़ कर इसी में पड़ा रहा तो मेरा अमूल्य मनुष्य जीवन नष्ट हुए बिना न रहेगा। बस, इस दृष्टान्त से विद्वान् पाठक समझ लेंगे कि संसार के स्वरूप को न जानने वाला उसमें जितना मोहित है उतना ही संसार के स्वरूप को ठीक जानने वाला उससे वैराग्यवान् है। किसी कवि ने पद्य के पाद में लिखा है कि 'संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति

किञ्चित् ।' अर्थात् हे मनुष्यो ! यदि इस संसार में थोड़ा भी सुख हो तो मुझे कहो तब मैं जानूं। महाराष्ट्र भाषा का एक कवि तो यहां तक लिख गया है कि :-

मूर्खांमाजी पर मूर्ख, जो संसारीं मानी सुख ।
संसार दुःखा ये बढ़ें, दुःख गणीच नाजो ॥

अर्थात् मूर्खों में भी महा मूर्ख वह है जो संसार में सुख मानता है और जो महान् दुःखमय संसार को दुःख नहीं गिनता। जब विवेकी मनुष्य इस प्रकार अपने विवेक से संसार को दुःखमय समझ लेता है, तब उसको इस संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर उक्त विवेकी मनुष्य में षट्सम्पत्ति अर्थात् शमदमादि गुण आते हैं और इसके अनन्तर उसमें मुमुक्षुत्व अर्थात् संसार से छूटने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्-संपत्ति और मुमुक्षुत्व इन साधन चतुष्टय से युक्त हुआ विद्वान् इस संसार से पीठ फेर कर ऐसा भागता है, जैसा कोई मनुष्य सामने मुख फाड़े हुए सिंह को देख भयभीत होकर भागता है। ऐसी दशा जिस मनुष्य की होती है वही सच्चा मुमुक्षु है। ऐसे मनुष्य संसार में बहुत ही विरले होते हैं।

यहां तक संसार से छूटने का ही नाम मोक्ष है और उसकी प्राप्ति का अधिकारी कौन हो सकता है यह संक्षेप से लिख दिया। अब उस मोक्ष की प्राप्ति के साधन क्या हैं इस बात का विचार कर्तव्य है। न्यायदर्शन में प्रमाण प्रमेयादि सोलह पदार्थों के तत्व-ज्ञान से मोक्ष कहा. वैशेषिक में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिःसधर्मः' अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध हो वह धर्म है अर्थात् धर्म को मोक्ष का साधन कहा, सांख्य में 'ज्ञानान्मुक्तिः' अर्थात् मुक्ति का साधन ज्ञान कहा। एवं प्राचीन ऋषियों ने साध्य मोक्ष को

प्राप्त करने में अनेक साधन दिखाए हैं। उन साधनों का मोक्ष सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है, यह वर्णन करने में यह निबन्ध बहुत बढ़ जायगा, इस लिए यहां उनका विचार न करके मोक्ष प्राप्ति में प्रधान साधन क्या है, इसका ही हम विचार करेंगे। यजुर्वेद में लिखा है कि:—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजु० अ० ३१ ॥

जिस आत्मा का वर्णन सहस्रशीर्षादि मन्त्रों से कर आए हैं उसको ही जान कर मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों का अतिक्रमण कर सकता है। मरणादि दुःखों से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है। यहाँ मृत्यु सब दुःखों का उपलक्षण है। उपनिषदों में भी लिखा है कि-

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तैत्तिरीयोप०।
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।
कठोपनिषदि ॥

ब्रह्मको जानने वाला ही परमपद मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट सकता है। जो ईश्वर को जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं। यहां यह शंका होती है कि क्या ईश्वर का तत्त्वतः ज्ञान होना ही मोक्ष प्राप्ति है? अथवा ईश्वर का तत्त्वतः ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में साधन है? इसका समाधान यह है कि ईश्वर का तत्त्वतः ज्ञान ही ईश्वर की प्राप्ति है और ईश्वर की प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है। जैसा व्यवहार में भी कहते हैं कि प्रतिष्ठा से ही धन मिलता है और धन से ही प्रतिष्ठा मिलती है। ऐसे दोनों ही प्रकार नीतिकारों ने माने हैं और दोनों ही सत्य हैं।

ऊपर के कथन से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर का तत्त्वतः ज्ञान वा प्राप्ति ही मोक्ष की प्राप्ति है। ईश्वर की प्राप्ति ही मोक्ष प्राप्ति है तो ईश्वर को प्राप्त करना ही मोक्ष प्राप्ति का साधन हम यहां समझलें। ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो, इसीका हमें यहां विचार करना चाहिये। संसार में यह नियम देखने में आता है कि जिस वस्तु की मनुष्य को प्राप्ति करनी हो उसके लिए चार बातें अपेक्षित हैं। १ प्राप्य वस्तु के स्वरूप का ज्ञान, २ वह वस्तु कहां मिलती है, इसका स्थान, ३ उस वस्तु की प्राप्ति के लिए धनादि साधन और ४ उसके लिए पुरुषार्थ। उक्त चारों बातों में से यदि एक भी न्यून हो तो मनुष्य अपनी अभिष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए हम एक व्यवहार का दृष्टान्त लें। किसी मनुष्य को बेर प्राप्त करने हैं। बेरों की प्राप्ति में प्रथम बेरों का स्वरूप मालूम होना चाहिये कि बेर कैसे होते हैं; दूसरी बात यह कि वे बेर कहां मिलते हैं; तीसरी बात यह कि बेरों के ख़रीदने में धन की आवश्यकता है, और चौथी बात यह कि जहां बेर मिलते हैं वहां तक जाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यदि उक्त चारों बातों में से एक भी न्यून हो तो बेरों की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस मनुष्य को बेरों के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं कि वे कैसे होते हैं तो बेरके बदले दूसरी वस्तु ले आवेगा। बेरों का ज्ञान है परन्तु वे कहां मिलते हैं यह मालूम न हो तो भी उसको बेर नहीं मिल सकते। बेरों के स्वरूप का ज्ञान है और वे कहां मिलते हैं यह भी मालूम है परन्तु धन पास नहीं है तो भी बेरों की प्राप्ति नहीं हो सकती। बेरों के स्वरूप का ज्ञान है, बेरों के स्थान का ज्ञान है और ख़रीदने के लिए धन भी पास है, किन्तु ख़रीद कर लाने का पुरुषार्थ नहीं तो भी बेर नहीं मिल सकते। उपर्युक्त चारों बातें अनुकूल होने पर ही अभीष्ट बेरों की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

उक्त दृष्टान्त को हम ईश्वर प्राप्ति रूप दार्ष्टान्त में घटावें। जिस परमात्मा को प्राप्ति करके हम मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, प्रथम हमें उस परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिये। परन्तु संसार में आज ईश्वर के स्वरूप विषय में जनता के विचित्र विचार देखे जावें तो प्राचीन वेदान्तों को देखने वाले मनुष्य का अन्तःकरण शोक से पर्याकुल हुए बिना न रहेगा। मुक्ति की भी ऐसी दुर्दशा अन्ध परम्परा में गिरी हुई मूढ़ जनताने की है कि उसकी कोई क़ीमत ही न रही। जगन्नाथ के दर्शन करने से मुक्ति, हरिद्वार में दर्शन तथा स्नान करने से मुक्ति, काशी में गंगा स्नान करने से मुक्ति, द्वारका में दर्शन करने से मुक्ति, एकादशी का उपवास करने से मुक्ति, भगवद्गीता के श्रवण मात्र से मुक्ति। हम कहां तक कहें, हर गंगे! हर नर्मदे! ऐसा सैंकड़ों योजन दूर रह कर भी कोई मनुष्य कहे उसे मुक्ति! बाज़ार की कोथमीर का भी कुछ मूल्य है, परन्तु वर्तमान समय में मुक्ति मट्टी के मोल बिकरही है! मनुष्य को मुक्ति शीघ्र देने के लिए खिस्तानुयायियों की मुक्ति फ़ौज तय्यार है। इस समय ईश्वर वा मोक्ष को प्राप्त करने वाले जितने ग्रन्थ वा महात्मा हो गये हैं, वे राम तथा कृष्ण के आगे न जा सके। भागवतकार राधा और कृष्ण को ईश्वर और ईश्वरी बनाने में तन्मय हो रहा है, उत्तर हिंदुस्थान में कबीर, तुलसीदास, सूरदास आदि, गुजरात काठियावाड़ में नरसी मेहता आदि, मेवाड़ में मीरांबाई आदि, महाराष्ट्र में तुकाराम, रामदास, नामदेव आदि। अन्ध जनता ने इनके पीछे काल्पनिक कथाएं जोड़ कर उक्त महात्माओं का माहात्म्य बढ़ाने में ज़रा भी कसर न रक्खी। कबीर फूलों की टोकरी से उत्पन्न हुए, मीरांबाई विष का प्याला पीकर भी न मरीं, नरसी महेता की लिखी हुई हुंडी ईश्वर ने सिकारदी, तुकाराम अपने पाँचभौतिक शरीर सहित विमान में बैठ कर वैकुण्ठ को गये, नाम देव ने हठ से ईश्वर को दूध का प्याला

पिलाया, इत्यादि । जिन महात्माओं के ध्यान में वेदान्त प्रतिपादित अचिन्त्य परमात्मा का ख़याल भी नहीं आया, वे ईश्वर के सच्चे भक्त हो गये और उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया, यह कथन बिचारी अन्धजनता को और भी अन्धेरे में ढकेलता ही है। 'उलटा चोर कोतवाल को डांडे' के समान ही हुआ। भागवतकार ने तथा उक्त महात्माओं ने अज्ञानी जनता का उद्धार करने के लिए राम-कृष्णादि की महिमा वर्णन करके बड़ा ही अश्रुतपूर्व भक्ति मार्ग निकाला, ऐसी उलटी यत्र तत्र प्रशंसा हो रही है। जिस सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर को प्राप्ति योग, वेदान्त आदि ग्रन्थों में यमनियमादि अष्टांग से लिखी है, जिस अचिन्त्य परमात्मा को ध्यान में लाने के लिए विविक्त स्थानों में बैठकर विचार करने का उपदेश है, उन ग्रन्थों का अनादर करके बाललीला के समान जो भक्ति मार्ग निकाला है, उससे संसार सच्चे पारमार्थिक मार्ग से इतना दूर चला गया है कि अब उसको वहां से लौटाकर सच्चे मार्ग पर लाना बड़ा कठिन कर्म मालूम होता है।

उक्त कबीर आदि महात्माओं ने संसार के उपकार के लिए कुछ नहीं किया, यह कहने के लिए हम तैयार नहीं। हम तो कहेंगे उक्त महात्मा भाषा के अच्छे कवि हो गये और उन्होंने अपने काव्यों में प्रसंगानुसार व्यवहार, सदाचार और वैराग्य की ऐसी परिणाम कारक बातें लिखी हैं जिनके लिए संसार उनका ऋणी है। परन्तु वे थे कुछ और संसार ने उनको मान लिया कुछ और, यही संसार की बड़ी भूल हुई है।

उक्त भूल प्रजा में अभीतक बराबर चल रही है उसमें त्रुटि आती नहीं दीखती। वर्ष डेढ़ वर्ष व्यतीत हुआ होगा महाराष्ट्र भाषा में निकलने वाले 'लोकमान्य' दैनिक अख़बार में महोदय तिलक ईश्वर के अवतार थे, यह सिद्ध करने के लिए कई दिनों तक लेख-

माला छुपती रही। नवम्बर १६२४ के एक 'यंगइंडिया' के अंक में महात्मा गांधीजी ने यह लिख कर कि लोग मुझे ईश्वरावतार मानकर संसार में ढोंग फैला रहे हैं, अज्ञ जनता का सख्त खण्डन किया है। गोंड जाति में म० गाँधी जी को ईश्वर का अवतार मानने वाला एक नया पन्थ निकला है। यह लोग सप्ताह में एक गांधी दिन मनाते हैं। उस दिन सब लोग मिलकर घूमते हैं। अन्य लोग मिन्नतें मानते हैं और वे उनकी पूरी होती हैं, ऐसी २ बातें चल रही हैं। म० गाँधी जी ने इसका यंगइंडिया में निषेध भी किया है तो भी यह बात उक्त जनता के अन्तःकरण से नहीं निकलती। अज्ञान मनुष्य को क्या २ नाच नचायगा इसका पार नहीं। सांप्रत ईश्वर के स्वरूप विषय में संस्कृत के बड़े २ पण्डित, इङ्गलिश भाषा के बड़े २ ग्रेज्युएट और पोलिटिकल विषय में बाल की खाल निकालने वाले बड़े २ देशभक्त भी ईश्वर विषय में अज्ञानी बनकर उसी प्रवाह में बह रहे हैं, जिस प्रवाह में निरन्तर अज्ञ जनता बह रही है। इस अन्धपरम्परा के विषय में सांख्य में एक सूत्र है और उस पर विज्ञानभिक्षु ने जो भाष्य किया है उसको प्रासंगिक समझकर हम यहां लिखे देते हैं :—

इतरथान्धपरम्परा ॥ सांख्य दर्शनम् ॥

भा० इतरथान्धपरम्परापत्तिरित्यर्थः। सामग्र्येण आत्मतत्त्व मज्ञात्वा चेदुपदिशेत् कस्मिंश्चिदंशे स्वभ्रमेण शिष्यमपि भ्रान्तीकुर्यात् सोप्यन्यं सोप्यन्यमित्यन्धपरम्परा ॥ विज्ञानभिक्षु ॥

जब सच्चे उपदेशक संसार में नहीं होते तब अन्धपरम्परा चलती है। पूर्णतया परमात्मतत्त्व को जाने विना यदि कोई उपदेश करे तो किसी अंश में उसको रहे हुए भ्रम से वह अपने शिष्य को भी भ्रान्त करेगा। वह भ्रान्त शिष्य अपने शिष्य को और वह अन्य

शिष्य को उपदेश करेगा। इसी प्रकार संसार में अन्धपरम्परा चलती है।

जब देशकालादि से अनवच्छिन्न परमात्मा एक देशी शरीर धारी हो ही नहीं सकता, ऐसा वेदान्त शास्त्र पुकार पुकार कर कह रहा है, तब रामकृष्णादि ईश्वर कैसे हो सकते हैं ? जब रामकृष्णादि ईश्वर ही नहीं तब उनकी भक्ति से मोक्षप्राप्ति कैसी ? अर्थात् ' नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम् ' के समान ही हुआ। ऊपर लिखे अनुसार जैसे गोंड जाति म० गांधी जी को ईश्वरावतार ठहरा कर अपना जीवन व्यर्थ कर रही है, वैसे ही अन्धश्रद्धालु हिन्दू जनता ने अन्धपरम्परा से चलते हुए रामकृष्णादि को ईश्वरावतार मानकर ईश्वर की सच्ची भक्ति से अपने आपको वञ्चित कर दिया। जब मनुष्य देखते हुए भी ठोकरें खाकर गिरने लगें तब उनको कौन बचा सकता है ? इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण और महाभारत को पढ़ पढ़कर या सुन सुनकर जिन्होंने अपनी आयु व्यतीत कर दी, फिर भी वे राम और कृष्ण को ईश्वर के अवतार मानने की ही हठ पकड़ बैठें तो उनको कौन समझावे ? नमूने के तौर पर रामायण तथा महाभारत के दो चार दृष्टान्त हम विद्वान् पाठकों के सामने रख देते हैं, इतने ही से वे वास्तविक बात को समझ लेंगे।

पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए महर्षि नारद वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर पहुंचे। वाल्मीकि ने अर्घ्य पाद्य से सत्कार करके नारद को आसन दिया। वाल्मीकि पूछने लगे कि महाराज ! इस समय संसार में धर्मात्मा, विद्वान्, माता तथा पिता का भक्त, सुंदर, बलवान्, और क्षमावान् पुरुष हो तो आप उसका वर्णन करें, मैं उस का जीवन चरित्र लिखना चाहता हूं। ऐसा पूछने पर महर्षि नारद ने कहा कि इस समय सर्वगुणसंपन्न महाराज दशरथ का पुत्र राम है, उसका आप पवित्र जीवन चरित्र लिखें। यहां प्रश्नकर्ता

ने भी गुणवान् पुरुष ही पूछा और उत्तरदाता ने भी गुणवान् राजपुत्र ही कहा। ईश्वरावतार होने की यहां कोई बात नहीं। अयोध्या काण्ड में जिस समय अपने वनवास का वृत्तान्त रामने सुना तब उन को अत्यन्त आश्चर्य हुआ! परन्तु यह वृत्तान्त सुनते ही लक्ष्मण के क्रोध का ठिकाना न रहा। उनकी आंखों से आँसुओं की धारें बहने लगीं। लक्ष्मण को इतना दुखी देखकर राम उनको समझाने लगे कि

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननुदैवस्यकर्म तत्॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥

सर्ग० २२। श्लो० २४। २५॥

हे लक्ष्मण! अकस्मात् आई हुई यह आपत्ति हमारे (दैव) कर्म का फल है। इस तत्त्व को तुम नहीं जानते इसलिए तुम इतना शोक कर रहे हो, मुझे इसका कुछभी दुःख नहीं। रामचन्द्र वेदादि शास्त्रों के तत्त्वों को जानने वाले होने से वे प्रारब्ध कर्म को अमिट समझते थे। इसी लिए उन्होंने वनवास रूपी आकस्मिक आगिरने वाले दुःख से न घबरा कर और अपने इस दुःख को अपने किसी कृतकर्म का फल समझ कर अपने आपको लक्ष्मण के समान मोहित न होने दिया! भला यहां ईश्वर होने की बात ही कहां? इसी प्रकार महाभारत के सभापर्व में जब महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्री कृष्ण को अग्रपूजा देने की संमति भीष्म ने दी, तब अग्रपूजा के योग्य कृष्ण नहीं ऐसा तीव्र विवाद शिशुपाल ने उठाया। उस समय कृष्ण को ही आज की सभा में अग्रपूजा देना चाहिये इस विषय में भीष्म ने दो कारण दिखाए हैं।

वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

सभापर्व० अ० २१। श्लो० १८

उक्त श्लोक के ऊपर के श्लोकों में भीष्म यह कह आए हैं कि कृष्ण हमारे संबन्धी हैं इस लिए मैंने इनको अग्रपूजा देने की संमति नहीं दी, किन्तु वेदादिका ज्ञान और पराक्रम इन दोनों गुणों से कृष्ण श्रेष्ठ होने के कारण दी है। इस बात का अनुमोदन देवर्षि नारद ने भी दिया और अन्त में उनकी अग्रपूजा सभा में हुई। यहां प्रश्न यह है कि जब कृष्ण साक्षात् ईश्वर थे तब महाज्ञानी कुरुवृद्ध पितामह भीष्म जैसे ने और देवर्षि नारद जैसे ने कृष्ण को अग्रपूजा देने में इतना बड़ा महत्व का निमित्त क्यों न दिखाया? यह प्रश्न न तो कोई श्रोता पूछता है और न कोई वक्ता उसका उत्तर देता है केवल अन्धाधुन्द चल रही है। इसीका नाम है सांख्य में कही हुई अन्धपरम्परा है। महाभारत में कुछ प्रकरण ऐसे भी हैं कि जिनमें कृष्ण के ईश्वर होने का भाव चमकता है परन्तु उसका उत्तर भी महाभारत से ही मिल जाता है।

द्यूत में युधिष्ठिर जब द्रौपदी को हार गये, तब दुःशासन द्रौपदी के बाल पकड़कर खेंचता हुआ सभा में लाया। वहाँ उसने द्रौपदी की साड़ी खेंच कर उसकी अप्रतिष्ठा करने की चेष्टा की। द्रौपदी ने कृष्ण का स्मरण किया और कहा कि, हे सखा! आप इस समय मेरी लज्जा रखिये। यह सुनकर वहां न होने पर भी कृष्ण ने द्रौपदी को इतनी साड़ियां पहना दीं कि सभा में साड़ियों का ढेर लग गया और दुःशासन भी खेंचता हुआ थक गया। सांप्रत यह कथा कृष्ण को ईश्वर सिद्ध करने में बड़ा भारी प्रमाण समझी जाती है। परन्तु उसी महाभारत में इस कथा का उत्तर भी पाठक महाशय सुनलें। वहीं आगे महाभारत में लिखा है कि जब युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हारकर भीमादि भ्राताओं और द्रौपदी के साथ वनवास के लिए वन में पहुंचे, तब द्वारका में श्रीकृष्ण को यह बात मालूम हुई। झटिति रथ पर सवार होकर वन में युधिष्ठिर

के समीप पहुंचे। युधिष्ठिर को अभिवादन कर कहने लगे कि महाराज ! क्या करूं जिस समय आपका कौरवों के साथ द्यूत हुआ उस समय मैं द्वारका में न था। द्वारका में पहुंचने पर युयुधान से मैंने आपका यह वृत्तान्त सुना, और सुनते ही महादुखी होकर आपके दर्शन के लिए इधर चला आया। अब यहां प्रश्न होता है कि श्रीकृष्ण सर्वज्ञ ईश्वर होने से दूर की भी बात जानते थे तो सर्वनाशकारी द्यूत से पाण्डवों को बचाने के लिए अपने आप क्यों न चले आए ? श्री कृष्ण स्वयं अपने मुख से कहते हैं कि यह द्यूत का वृत्तान्त मैंने युयुधान से सुना। द्रौपदी की सैंकड़ों कोसों से बात सुनने में तो श्रीकृष्ण सर्वज्ञ रहे परन्तु पाण्डवों के द्यूत का वृत्तान्त सुनने में अल्पज्ञ होगये। यह परस्पर विरुद्ध बातें क्यों ? भागवत में अपने गुरु सांदीपन को गुरु दक्षिणा में उनका कई दिनों से मृत हुआ पुत्र भी स्वर्ग से श्रीकृष्ण ने ला दिया, परन्तु भारतयुद्ध में अपने प्राणप्रिय अर्जुन के प्राणप्रिय पुत्र अभिमन्यु के, जो कि उन का भी अत्यन्त प्यारा था, मृत शरीर विद्यमान होने पर भी प्राणपक्षी को बुलाकर उसको जीवित क्यों न कर सके ? युद्ध समाप्त होकर शिविरोंमें सोए हुए द्रौपदी के पाँच पुत्र आदि पांडवों के सैनिकों को रात्रिके समय अश्वत्थामा ने निर्दयतासे काट डाला उस समय श्रीकृष्ण की सर्वज्ञता कहाँ गई थी ? इन शंकाओं का समाधान करने वाला न तो कोई वक्ता है और न ऐसी शंकाओं का करने वाला कोई श्रोता है। यहां तक हमने 'आक्षेपोऽथ समाधानम्' अर्थात् आक्षेप उठाकर उसका समाधान करना, यह व्याख्यान का अंग पूर्ण किया।

अब हमें यह देखना है कि वेदादि शास्त्रों और उनके विद्वान् भाष्यकारों ने ईश्वर के स्वरूप का क्या निर्णय किया है। क्या ईश्वर निराकार ही है अथवा निराकार और साकार दोनों प्रकार से हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यथाशक्ति युक्ति और प्रमाण

से ही लिखेंगे। अनुमान १५ वर्ष व्यतीत हुए होंगे स्वा० ब्रह्मचारी रामेश्वरानन्द जी ने आर्यावर्त निवासी विद्वान् पण्डितों को आमन्त्रण देकर बम्बई में बुलाया था। और बम्बई के प्रसिद्ध स्थान माधव बाग में एक महती सभा कराई थी। उक्त सभा के सभापति स्व० विद्वद्वर्य शिवकुमार शास्त्री जी मुख्यासन पर विराजमान हुए थे। सभापति जब बोलने को उठे तब प्रसंगवश निराकार ईश्वर शरीर धारण करके साकार हो सकता है, इस बात की सिद्धि के लिए उन्होंने एक युक्ति दी थी, वह आज तक हम भूले नहीं हैं। उन्होंने कहा कि जो कुम्हार दूसरों के लिए मिट्टी के घड़े बना सकता है क्या वह अपने लिए नहीं बना सकता? यदि ईश्वर जीवों के अनेक शरीर बना सकता है तो क्या वह अपने लिए शरीर नहीं बना सकता? अर्थात् बना सकता है। यह युक्ति सुन कर सभा में खूब तालियां पीटी गई। इस विषय में यदि कोई पूछता है कि अस्मदादिकों के शरीर कर्मायत्त अर्थात् कर्म के अधीन हैं, जैसे जिसने कर्म किये हों वैसा उसको शरीर मिलता है, तो क्या ईश्वर ने भी कोई ऐसे कर्म किये हैं, जिनके निमित्त ईश्वर को भी भोगायतन शरीर धारण करना पड़ा? साकारवादी इसके उत्तर में कह देते हैं कि ईश्वर का शरीर स्वायत्त है, कर्मायत्त नहीं, अर्थात् अपनी इच्छा से शरीर धारण करता है, कर्म के अधीन होकर नहीं। जब ईश्वर के शरीरी होने में स्व० शिवकुमारशास्त्री जी जैसे भी समर्थ विद्वान् व्यामोह को प्राप्त हुए हैं, तब अन्य शास्त्रानभिज्ञों का तो कहना ही क्या है? इसके आगे वेदादिशास्त्र ईश्वरस्वरूप के विषय में क्या कहते हैं, इसका पाठकों को दिग्दर्शन कराते हैं:—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमित्यादि० यजु० अ० ४० । मं० ८ ।

जिसकी उपासना भक्त करते हैं, वह आत्मा आकाशवत्

सर्वव्यापी है। वह शरीर रहित होने से व्रण नाड़ी आदि से रहित है इत्यादि। उक्त वेद मन्त्र स्पष्ट कह रहा है कि परमात्मा सर्वव्यापी है और वह शरीर के सब विकारों से रहित इसीलिए है कि वह निराकार है। अब जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर निराकार है यह तो हम भी मानते हैं परंतु वह कभी अपनी इच्छा से शरीरी अर्थात साकारी भी बन जाता है, जैसे रामकृष्णादि होगये। इसपर शास्त्र के भाष्यकार क्या कहते हैं यह भी सुनियेः—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः। ब्रह्मसूत्रेषु अ० २ २।४०।

अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किञ्चित्करणानामायतनं शरीरं कामन कल्प्येत, एवमपि नोपपद्यते। सशरीरत्वे हि सति संसारिवद्भोगादिप्रसंगादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥ शांकरभाष्यम्।

करणवत० इस सूत्र के भाष्य में स्वा० शङ्कराचार्य जी लिखते हैं कि लोकदृष्टि के अनुसार ईश्वर भी अपनी इच्छा से श्रोत्रादि इंद्रियों वाला शरीर बना सकता है, ऐसा कहें तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर यदि अस्मदादिवत् शरीर वाला हो जावे तो जैसे शरीर वाले संसारी सुखदुःखादि भोगों से युक्त हो जाते हैं वैसा वह भी हो जाय। ऐसा होने पर ईश्वर फिर ईश्वर न रह सकेगा किन्तु ईश्वर में अनीश्वरत्व प्रसंग आजायगा। उभयविध अर्थात् साकार और निराकार दोनों प्रकार से ईश्वर मानने में दोष दिखाते हुए सूत्रकार महर्षि व्यास और भाष्यकार स्वा० शंकराचार्य जी आगे उभयलिंगाधिकरण में लिखते हैं :—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि। अ० ३।२।११ ॥

तत्रोभयलिंगश्रुत्यनुग्रहादुभयलिंगमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः- न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु

स्वत एव रूपादि विशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति, तदपि नोपपद्यते। न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति। न हि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य। अतश्चान्यतरलिंगपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३। १५। मुक्तिको० २। ७२।) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ शांकरभाष्यम् ॥

भावार्थः—ईश्वर के साकारत्व और निराकारत्व दोनों प्रकार के स्वरूप की श्रुतियाँ देखने से ब्रह्म दोनों प्रकार का ही हो सकता है, ऐसा प्राप्त होने पर (स्वा० शंकराचार्य जी कहते हैं) हम कहते हैं कि कभी भी ब्रह्म दो प्रकार का नहीं हो सकता। कारण एक ही वस्तु साकार है और वही निराकार भी है यह परस्पर विरुद्ध होने से मानने योग्य नहीं। कदाचित् कोई कहे कि पृथिवी आदि उपाधियों से ब्रह्म साकार है ऐसा भी कह सकते हैं ? (स्वा० शंकराचार्य जी कहते हैं) वह भी सिद्ध नहीं हो सकता। उपाधि का योग होने पर भी वस्तु का जो स्वभाव हो वह अन्य के स्वभाव जैसा हो जाय यह सम्भव नहीं। एक काच स्वच्छ है, वह लाक्षा (महावर) के योग से मैला प्रतीत होता है। परन्तु यह देखने वाले का भ्रम होने से काच वास्तव में मलीन है ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए ब्रह्म वास्तव में निराकार होने पर भी जहां साकार का सा स्वरूप वर्णन आवे, वहां समस्त उपाधियों से रहित निराकार ब्रह्म ही समझना चाहिये उससे विपरीत नहीं। सर्वत्र ब्रह्म का कथन करने वाले वाक्यों में शब्द रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और निर्विकार ब्रह्म ही का उपदेश किया गया है। इसी विषय को पुष्ट करते

हुए सूत्रों में महर्षि व्यासजी कहते हैं:—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ अ० ३।२।१४

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात्तत्प्रधानत्वात् । 'अस्थूलमनणु०' इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपंच ब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितम् । तस्मादेवं जातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् । शांकर भाष्यम् ।

भावार्थः-रूपादि आकाररहित ही ब्रह्म हो सकता है रूप वाला नहीं यह निश्चय है । क्योंकि वेदान्तों में जहां स्थूलतारहित आदि ब्रह्म के विशेषण आते हैं, उन वाक्यों में संसार के धर्म से पृथक् ब्रह्मात्मतत्त्व का ही ग्रहण मुख्य है । इसलिए 'ईश्वर स्थूल नहीं, अणु नहीं' इत्यादि वेदान्तवाक्यों में निराकार ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिये ।

कई महाशय शंका करते हैं कि यदि ब्रह्म निराकार ही है तो मनुष्य की बुद्धि उसको प्राप्त नहीं कर सकती । यह शंका नई नहीं है । भगवद्गीता का शाँकरभाष्य देखने से मालूम होता है कि आद्य स्वा० शंकराचार्य के सामने भी यह शंका उपस्थित थी । गीता के श्लोक पर वे लिखते हैं कि:—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥

भग० अ० १८ । श्लो० ५० ।

केचित्तु पण्डितम्मन्या निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिरतो दुःसाध्यमसम्यग्ज्ञाननिष्ठेत्याहुः । सत्यमेवम्, गुरु संप्रदायरहितानाम्, अश्रुतवेदान्तानाम्, अत्यन्तबहिर्विषयासक्तबुद्धीनाम्, सम्यक्प्रमाणेष्वकृतश्रमाणाम् । शां० । भा० ॥

भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक का स्वा० शंकराचार्य जी ने बहुत ही विस्तृत भाष्य किया है। उसमें पूर्वपक्ष की शंका करके उसका उन्होंने बहुत ही मनोहर समाधान दिया है। वे लिखते हैं कि कई पण्डितम्मन्य (वास्तव में जो पण्डित न होकर अपने आप को पण्डित मानने वाले) लोग कहते हैं कि परमात्मा निराकार होने से मनुष्य की बुद्धि उसको प्राप्त नहीं कर सकती। इस लिए परमात्मा का ज्ञान होना दुःसाध्य है। इसके उत्तर में स्वा०शंकराचार्य जी कहते हैं, जो लोग गुरु सम्प्रदाय से रहित हैं अर्थात् 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' इस उपनिषद् के अनुसार वेदज्ञ तथा ब्रह्म में जिसकी पूर्ण निष्ठा हो ऐसे गुरु परम्परा से जो रहित हैं किन्तु नाममात्र के वेदान्त के ज्ञान से शून्य गुरु से जिन्होंने अपने कान फुंकवाये हों, जिन्हों ने कभी वेदान्त न सुना हो, जो बाह्य शब्दादि सांसारिक विषयों में अत्यन्त आसक्त हों और किसी वस्तु के स्वरूप का ठीक निर्णय कराने वाले प्रत्यक्षादि न्यायोक्त प्रमाणों में जिन्हों ने कुछ भी परिश्रम न किया हो ऐसे मनुष्य यह कहदें कि आत्मवस्तु को निराकार होने से मनुष्य की बुद्धि प्राप्त नहीं कर सकती? अर्थात् अज्ञानियों के लिए ऐसा कह देना कोई आश्चर्य नहीं।

निराकार आत्मा बुद्धि के लिए अप्राप्य है, ऐसा कहने वाले स्वा० शंकराचार्य जी ने चार प्रकार के मनुष्य ठहराए हैं। उनमें से तीसरे प्रकार के 'अत्यन्तबहिर्विषयासक्तबुद्धि' मनुष्यों के लिए कुछ विचार करना चाहिये। बम्बई में छः छः मञ्जिल के मकान बहुत हैं। कोई मनुष्य छठो मञ्जिल पर चढ़कर पानी का नल फेर कर पानी लेना चाहे; परंतु नीचे के पांचों मञ्जिल के पांचों पानी के नल खोल दिये गये हों तो छठी मञ्जिल पर कभी पानी चढ़ नहीं सकता। पांचों तो क्या परंतु एक भी नल खुला हो तो भी छठो मञ्जिल पर पानी

बढ़ नहीं सकता, तब पांचों नल खुले हों तो कहना ही क्या है? स्वा० शंकराचार्य जी के कथन पर उक्त दृष्टान्त अक्षरशः घटजाता है। जिनकी बुद्धि शब्द स्पर्शादि सांसारिक विषयों में ही दिन रात लगी हुई होती है, उन विषयों से क्षण भर भी अपनी बुद्धिको खैंचकर और एकान्त में बैठकर परमात्मातत्त्वका विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता वे कह सकते हैं कि बुद्धि निराकार ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकती। यदि एक विषय में भी बुद्धि रूपी प्रवाह वेग से बह रहा हो तो भी बुद्धि आत्मतत्त्व का विचार नहीं कर सकती, तब पांचों विषयों में वेग के साथ बहने वाला बुद्धि का प्रवाह परमात्मतत्त्व का विचार करने में कैसे समर्थ हो सकता है? स्वा० शंकराचार्य भी वेदान्त दर्शन के 'जन्माद्यस्य यतः ।१०।१२॥ सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि:—

स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि । शां०भा०

मनुष्य की इन्द्रियां स्वभाव से ही शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाली हैं अर्थात् विषयों को ग्रहण करना ही उनका विषय है, ब्रह्मतत्त्व को ग्रहण करने का उनका विषय ही नहीं है यदि यह बात सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार है तो विषयासक्त इन्द्रियां निर्विषय, निराकार ईश्वर को जानने में समर्थ कभी नहीं हो सकतीं। उसको जानने का साधन कठोपनिषद् में लिखा है कि:—

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

॥ कठ० अ० ६ । १

परमेश्वर ने इंद्रियां विषयों को ग्रहण करने के लिए ही बनाई हैं। इसीलिए वे विषयों पर ही गिरती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। लाखों में कोई एक ध्यानशील पुरुष मोक्ष की इच्छा करता

हुआ परमात्मा को अपने अन्दर ही देखता है। किस साधन से देखता है? इसका उत्तर देते हैं :—

दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ० अ० १।१२

परमात्मा को तो सूक्ष्मदर्शी विद्वान् अपनी सूक्ष्म बुद्धि से ही देखते हैं, आंखों से नहीं। जो लोग परमात्मा को उभयविध मानते हैं वे शास्त्रों को देखे बिना ही मानते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस तैत्तिरीयोपनिषद् के वाक्य पर भाष्य करते हुए स्वा० शंकराचार्य जी ने लिखा है कि यहां ब्रह्म का सत्य विशेषण इसलिए दिया है कि 'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं' न व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रूपेण निश्चितं यद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते' अर्थात् ब्रह्म निराकार अज, सर्व व्यापकादि विशेषण विशिष्ट जब माना गया है, तब उससे विपरीत साकारादि माना जावे तो वह सत्य विशेषण वाला नहीं हो सकता किन्तु अनृत हो जायगा। ईश्वर को दोनों प्रकार का मान कर आज स्वामी शंकराचार्य जी के अनुयायी ही उनका अनादर कर रहे हैं। ब्रह्म के स्वरूप का ही जिनको अभी निश्चय नहीं, तब उसकी प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप दो शिष्य ईश्वर का उपदेश लेने के लिए गये। गुरु ने उनको उपदेश करने के पूर्व दोनों के हाथों में लकड़ी के दो पिंजरे दिये जिनमें लकड़ी के दो तोते बैठाए हुए थे। उक्त पिंजरे देकर दोनों शिष्यों को कहा कि तुम दोनों दोनों दिशाओं में जाकर इन पिंजरों को जलाकर शीघ्र मेरे समीप लौट आओ। परन्तु यह बात ध्यान में रक्खो कि जहां कोई भी पिंजरा जलाते समय न देख सके ऐसे स्थान पर ही जलाना। दोनों ही शिष्य गुरु के उक्त कथनानुसार पृथक् २ पर्वतों की गुहा में पहुंचे। उन गुहाओं में इतना अंधेरा था कि इनका भी शरीर इनको नहीं दीख पड़ता था

दोनों ने यही सोचा कि यही स्थान गुरु के कथनानुसार है क्योंकि यहां मनुष्य, पशु पक्षी आदि कोई भी इस जलाने की क्रियाको नहीं देख सकता है। इसलिए यही स्थान ठीक है, ऐसा निश्चयकर दोनों शिष्य पिंजरे जलाने के लिए प्रवृत्त हुए और उनमें से एक ने पिंजरा जला भी दिया। दूसरे ने सोचा कि यद्यपि यहां मनुष्य, पशु पक्षी आदि कोई नहीं देख सकता, यह ठीक है, परन्तु सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक परमात्मा तो सर्वत्र है। वह न देख सके ऐसा कोई भी स्थान न होनेसे गुरु के कथनानुसार इस पिंजरे को मैं जला नहीं सकता। ऐसा कहकर पिंजरे को हाथ में लेकर वह गुरु के समीप लौट आया। पिंजरा जला कर आया हुआ शिष्य आनन्दित होकर अपने मनमें कहने लगा कि गुरुजी मुझे ही प्रथम उपदेश देंगे, परंतु हुवा इससे विपरीत। गुरुने पिंजरा पीछे लाने वालेको बड़े ही आदर से कहा कि बेटा! तुम पिंजरा पीछे क्यों लौटा लाए? उसने पिंजरा लौटा लाने का उत्तर कह सुनाया। गुरु जी ने कहा कि हे शिष्य! तुमही प्रथम ईश्वर प्राप्ति का उपदेश ग्रहण करने के अधिकारी हो। इस पिंजरा जलाने वालेको अभी यही ज्ञान नहीं है कि ईश्वर कैसा और कहाँ है। उक्त दोनों बातों का ज्ञान होने पर ही यह ईश्वरप्राप्ति का अधिकारी हो सकता है अन्यथा नहीं। उक्त दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि वेदान्तप्रतिपाद्य ईश्वरके स्वरूप ज्ञानसे अनभिज्ञ लोग जो ईश्वर प्राप्ति के लिए यत्रतत्र दौड़ रहे हैं वे ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी दृष्टि में ईश्वर प्राप्ति का उपदेश ग्रहण करने के ही योग्य नहीं तब उनको ईश्वर प्राप्ति कहां?

यहाँतक हमने शंकासमाधानपुरस्सर वेदान्त प्रतिपाद्य ईश्वर का स्वरूप संक्षेपसे कथन करदिया। अब जिस वस्तुकी प्राप्ति मनुष्य करना चाहता है, वह वस्तु कहां प्राप्त हो सकती है, इस दूसरी बात का विचार करना है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्यायमें लिखा है कि:-

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। यजु०अ० ४० मं० ५ ॥
स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः० ॥ उपनिषद् ॥
ईशा वास्यमिदं ँ सर्वम्० ॥ यजु० अ० ४० । १ ।

परमात्मा इस संपूर्ण संसारके अंदर और बाहर विद्यमान है, वह अजन्मा ईश्वर सब के अंदर बाहर व्याप्त होरहा है 'वस निवासे' और 'वस आच्छादने' इन दोनों धातुओं से 'वास्य' शब्द बना है। परमेश्वर इस जगत् में निवास करता है और बाहर भी उससे यह सब जगत् आच्छादित है । अर्थात् जगत् के अंदर और बाहर व्याप्त है। यहां यह शंका होती है कि यदि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है तो हमारे जीवात्मा में भी है फिर उसकी प्राप्ति कैसी? अर्थात् नित्य प्राप्त वस्तु की प्राप्ति ही क्या ? इस शंका का समाधान यह है कि अन्तर तीन प्रकार का होता है । पहिला देशकृत अन्तर, दूसरा कालकृत अन्तर और तीसरा अज्ञानकृत अन्तर। बम्बई और दिल्ली का देश-कृत अन्तर है। हज़ार माईल रेल पर सवार होकर बम्बई निवासी मनुष्य चले तब उसको दिल्ली की प्राप्ति होसकती है अन्यथा नहीं। यह देशकृत अन्तर हुआ। दूसरा अन्तर समयकृत है। एक किसान भूमिमें बीज बोता है । उसके पौदे (अंकुर) की प्राप्ति होनेमें कुछ समय की आवश्यकता है। उतना समय जानेपर पौदा प्रकट होजायगा और बोने वाले किसान को उसकी प्राप्ति हो जायगी, यह कालकृत अन्तर हुआ । अब तीसरा अज्ञानकृत अन्तर है । एक मनुष्य सौ रुपयों का नोट जेब में डालकर स्टेशन पर गया । मास्टर से उसने टिकिट माँगा। मास्टर ने कहा कि बीस रुपये निकालो। इतना सुनते ही उक्त मनुष्य कहने लगा कि अरे मैं तो सौ का नोट मकान भूल आया। ऐसा कहकर घरकी ओर दौड़ा। यहां नोट मनुष्यकी जेब में ही होने से उसकी उसे प्राप्ति थी परन्तु नोट मेरी जेब में हैं ऐसा

उसको ज्ञान न होनेसे वह मनुष्य व्यर्थ मकानतक दौड़ता गया। यह तीसरा अज्ञानकृत अन्तर हुआ। अब हमको यह देखना हैकि उक्त तीन प्रकार के अन्तरों में ईश्वर का और मनुष्य का कौन सा अन्तर है। ईश्वर देशकालादि से अनवच्छिन्न होनेसे उसका और मनुष्यका देश और कालका अन्तर नहीं होसकता। उपर्युक्त वेदोपनिषदों के प्रमाणों से जब ईश्वर सब जगत् में परिपूर्ण होरहा है तब उसका और मनुष्य का स्थानकृत अन्तर न रहा। परन्तु आजकल जब ईश्वर की प्राप्ति के लिए जो लोग जगन्नाथ द्वारका, हरिद्वार, रामेश्वर, काशी आदि को दौड़ रहे हैं वे ऊपर कहे हुए नोट के अज्ञान से मकान पर दौड़ने वाले मनुष्यके समान भ्रान्त हैं यह निस्सन्देह है। 'यस्तु त्रिषु कालेषु न बाधते तत्सत्' जो वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीनों कालोंमें विद्यमान है इस लिए परमात्मा का नाम सत् है। ईश्वर सब स्थानों में और सब कालों में विद्यमान होने से उसका और हमारा स्थानकृत और कालकृत अन्तर नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ। हां तीसरा ईश्वर और मनुष्यों का अज्ञानकृत अन्तर अवश्य है। इसीलिए अज्ञानवश मनुष्य अपना अमूल्य समय और धन व्यर्थ व्यय करके इधर उधर दौड़ रहे हैं। जिस दिन जिज्ञासु मनुष्य को गुरु तथा शास्त्र से सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहने वाले परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है तब उसी समय मनुष्य इतस्ततः दौड़ना छोड़ कर निर्भ्रान्त हो जाता है।

इस निबन्ध के आरम्भ में अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति में हमने अपेक्षित चार बातें लिखी हैं। उनमें से ईश्वर वस्तु को प्राप्ति के लिए दो बातें हमने लिख दीं। ईश्वर प्रेप्सु मनुष्य के लिए ईश्वर का स्वरूप कैसा है, यह लिखकर वह वस्तु कहां मिल सकती है यह दो बातें हमने संक्षेप से यहां तक लिखीं, अब तीसरी बात यह कि जैसे बेरों का स्वरूप और वे कहां मिलते हैं इतना मालूम होने

पर उनको ख़रीदने के लिए अर्थात् प्राप्त करने के लिए धन रूप साधन की आवश्यकता होती है वैसे ही ईश्वर निराकार सच्चिदानन्द स्वरूप है और सबों के अन्दर और बाहर आकाशवत् व्यापक है, अब प्रसंगानुसार उसकी प्राप्ति के साधनों पर विचार करना है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा; सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

यह मुण्डकोपनिषद् का श्लोकार्ध है। इसमें ईश्वर को प्राप्त करने का पहला साधन उपनिषत्कार ने सत्य लिखा है। 'सत्य' यह विशेषण वाणी का और किसी वस्तु का भी हो सकता है। 'सत्यं वद' इस वाक्य में 'सत्यं' भाषण, वाणी का विशेषण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य में 'सत्य' परमात्मवस्तु का विशेषण है। उपर्युक्त श्लोकार्ध में सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य यह चार साधन ईश्वर प्राप्ति के लिए लिखे हैं। श्लोकार्ध के अन्त में जो 'नित्य' पद लिखा है उससे उपनिषत्कार को सत्यादि की कदाचित्कता अभीष्ट नहीं, अर्थात् ईश्वर प्राप्ति की वा मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाला मनुष्य कभी सत्य बोले अथवा कभी सत्य सुने और कभी असत्य भी बोले वा सुने यह नहीं हो सकता। किन्तु नित्य सत्य, नित्य तप, नित्य सम्यग् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्य इन नैत्यक चारों साधनों से ही परमात्मवस्तु प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। नित्य सत्य यह प्रथम साधन है। 'यथार्थाभिधानं सत्यम्' जो वस्तु अथवा जो बात जैसी हो, उसको उसी प्रकार कहना यह सत्य कहाता है। स्वा० शंकराचार्य जी ने गीताभाष्य में सत्य की व्याख्या बहुत ही ठीक की है। वे लिखते हैं:—

यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य चात्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथैवोच्चार्यमाणा वाक् सत्यम् ॥ शांकर भाष्यम् ॥

अर्थात् जैसा देखा है और जैसा सुना है, उसको देखे वा

सुने के अनुसार ही अपने आत्मा में अनुभव करके उसको दूसरे के अन्तःकरण में प्रविष्ट करने के लिए जो वाणी प्रयुक्त की जाती है, उस वाणी का नाम सत्य है। हमारी संमति में यह स्वा० शंकराचार्य जी की सत्य की व्याख्या बहुत ही यथार्थ है। इससे बढ़कर सत्य की व्याख्या नहीं हो सकती। इस व्याख्या के अनुसार केवल विद्वान् लोग ही बोलने लग जावें तो आजकल धर्म के नाम पर संसार में जो भ्रमजाल फैला हुआ है वह सब निरस्त हो जावे। अच्छे २ विद्वान् भी सांप्रत विना सोचे धर्म विषय में कुछ का कुछ बक रहे हैं और उस बकने को सत्य ही कह कर पुकार रहे हैं। जहां साक्षरों की यह दशा हो वहां निरक्षरों की दशा का तो क्या ही कहना है? सामान्य जन समूह की दशा का वर्णन एक कवि ने ठीक किया है कि:-

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥

एक का किया हुआ काम देखकर दूसरा भी वैसा ही करता चला जाता है चाहे वह काम बुरा क्यों न हो। इससे पता चलता है कि सामान्य जन आगे वाले के पीछे चलने वाले हैं, सोच विचार कर काम करने वाले नहीं। उसमें भी 'मोक्षप्राप्ति' जैसे अत्यन्त सूक्ष्म विषय में जिसको विचार करने का भी अधिकार नहीं, वह भी ईश्वर वा मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता हुआ देखा जाता है। अस्तु, प्रकरण यह है कि सत्य से ईश्वर प्राप्त करने योग्य है परन्तु जब सत्य ही संसार के सुनने में न आवे तब संसार को ईश्वर प्राप्ति का ज्ञान कैसे मिले? कोई कहता है मोक्षदा एकादशी का व्रत करने से, कोई कहता है जगन्नाथ का उच्छिष्ट भात खाने से, कोई कहते हैं काशी में मरने से ही मुक्ति मिलती है ऐसे अनेक अशा-

स्त्रीय बातें संसार में मोक्ष प्राप्ति के विषय में चल रही हैं। और वे इतनी धूम धड़ाके से चल रही हैं कि उनके सामने हमारी बात शास्त्रीय होने पर भी संसार के कानों तक पहुंचनी कठिन है। 'भेरीनिनादोऽपहतेव' जैसे भेरी अर्थात् धौंसा नफ़ीरी आदि बड़ी आवाज़ वाले वाद्य के पास कर्णमधुर वीणाभी बज रही हो तो भी प्रथम सुनने में भेरी की ही आवाज़ आ सकती है, वीणा की आवाज़ कोई नहीं सुन सकता। इसी प्रकार आज शास्त्रीय विषयों की दशा हो रही है। यहां कदाचित् कोई कहे कि यदि शास्त्रीय बातें आज कोई नहीं सुनता तब सुनाई क्यों जावें? इसका समाधान यह है कि यद्यपि अज्ञोंकी संख्या सदाही संसार में अधिक होती है यह सत्य है तथापि सूक्ष्म परीक्षक भी कम संख्या में क्यों न हों परन्तु होते अवश्य हैं। जिस दिन शास्त्रीय लेख उनके दृष्टि गोचर होगा, उस दिन हमको पूर्ण आशा है कि 'सत्यमेव जयते' इस उपनिषद्वाक्य के अनुसार जो सत्य होगा उसी की ही जय होगी। आज मोक्ष प्राप्ति के विषय में प्रजा को सत्य सुनाया नहीं जा रहा है। चारों ओर से मनुष्य प्रजा के कान पर असत्य की ही आवाज़ आ रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रजा का मन सत्य से विचलित होकर असत्य की ओर जा रहा है। इस में अधिक दोष उन्हीं विद्वानों का है जो संसार को मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दे रहे हैं। महाभारत युद्ध में जिस प्रकार शल्य ने निशाना चुकाने के लिए कर्ण को बारम्बार झूठा उपदेश देकर उसके मनको निशाने से विचलित करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार सांप्रत अज्ञानवश अथवा लोभवश विद्वान् होने पर भी मनुष्य प्रजा का मन सत्य से विचलित कर रहे हैं। इसी लिए ईश्वर की प्राप्ति में प्रथम साधन सत्य लिखा है।

यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि क्या स्वा० शंकराचार्य की सत्य की व्याख्या के अनुसार आपने ईश्वर के स्वरूप का अपने

आत्मा में अनुभव कर लिया है? यदि नहीं किया तो आपका कथन भी सत्य न हुआ। यदि सत्य नहीं तो आपका कथन भी मानने योग्य नहीं। इसका समाधान यह है कि वक्ता जिस विषय में कुछ कहे उस विषय का उस विषय की विद्या से वक्ता ने यदि बुद्धि पूर्वक निश्चय कर लिया हो तो, वह निश्चय भी उसका अनुभव ही कहाता है। इसका उदाहरण यह है कि एक परदेश गमन करने वाला मनुष्य भूगोल का नक़शा जानने वाले के पास जाकर पूछे कि महाशय जी! मुझे इंगलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, अमेरिका आदि जाना है तो मैं किस मार्ग से जाऊं? भूमण्डल का नक़शा जानने वाला उत्तर देगा कि आप बम्बई से फ़लाने स्टीमर में बैठकर इतने दिनों में फ़लाने बन्दर को पहुंचो। फिर वहाँ से फ़लाने बन्दर को जाओ, इस प्रकार तुम इंगलैण्ड को पहुंच जाओगे। वहाँ से फ्रान्स, फ्रान्स से जर्मनी और जर्मनी से अमेरिका पहुंचोगे। इस प्रकार नक़शे को हाथ में लेकर जल तथा स्थल के मार्ग को अच्छे प्रकार समझा देगा जिस से प्रवास करने वाले को सुभीता होकर वह अपने अभीष्ट स्थानों को प्राप्त करता चला जावे। उदाहरण के अनुसार हम भी यही कहेंगे कि हम ने भी मोक्ष शास्त्र वेदान्त को पढ़ कर यह निश्चय आत्मा में कर लिया है कि मोक्षका अभिलाषी इस प्रकार करे तो वह मोक्ष को अवश्य ही प्राप्त करलेगा।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥
न्यायदर्शन ॥

जिसके कहने से सामान्य मनुष्य और शिक्षित मनुष्य दोनों के समझ में कोई भी विषय ठीक आजावे, उस कथन को दृष्टान्त कहते हैं। ऊपर कहे हुए दृष्टान्त में यद्यपि भूगोल शास्त्र के ज्ञाताने प्रत्यक्ष इंगलैंड फ्रान्सादि देखे नहीं हैं तथापि भूगोल शास्त्र के अनु-

भव से वह दूसरे को भिन्न भिन्न देशों का मार्ग दिखा सकता है। इसी प्रकार हमने भी यथामति ब्रह्मविद्या वेदान्त को देखकर और अपने आत्मा में निश्चय करके मोक्ष प्राप्ति का मार्ग इस निबन्ध में दिखाया है। यदि कोई मोक्ष शास्त्र को जानने वाला ही हमारी भूल निकालेगा तो हम निःसन्देह अपनी भूलको सुधार लेंगे अन्यथा भूल निकालने वाले को ही हम भूल समझेंगे। सांप्रत मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखाने वाले सत्योपदेशक न होने के कारण आज संसार मोक्ष के लोभ से हर किसी के कथन पर विश्वास रखकर अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो रहा है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ उपनिषद् ॥

उपनिषत्कार कहते हैं मुमुक्षु ओंकार का धनुष बनाकर उस पर जीवात्मरूप बाण संधान करे। फिर सावधान चित्त होकर बाण फेंकने वाला जिस प्रकार तन्मय होकर निशाने को बींधता है इसी प्रकार ब्रह्मरूपी निशाने को अपने जीवात्मरूपी बाण से बींध दे अर्थात् जीवात्मा को ब्रह्म का साक्षात् करादे। जब ऐसा हो जाय तब ही वह ब्रह्म प्राप्तिरूप मोक्ष कहाता है। परंतु आजकल सर्वत्र इससे विपरीत हो रहा है। राधाकृष्ण, सीताराम आदि के धनुष बन रहे हैं। उपनिषत्कार ब्रह्म को निशाना कह रहे हैं तो सांप्रत काष्ठपाषाणादि की मूर्तियां निशाने बन रहा हैं। उपनिषत्कार सावधान चित्त से उन्मत्त जनता के चित्त को चंचल कर रहे हैं। जहां एक भी साधन वेदान्त शास्त्र के अनुसार न हो, वहां ईश्वर प्राप्ति रूप मोक्ष की आशा वन्ध्यापुत्र अथवा खपुष्प के समान असंभवनीय है। यह ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर एक ही है? कि सत्य के न सुनने से और असत्य के सुनने से। इसी लिए उपनिषद्

कहती है 'सत्येन लभ्यः' परमात्मा सत्य से मिलने योग्य है। परन्तु जब सत्य ही सुनने में न आवे तब उसकी प्राप्ति की आशा व्यर्थ है।

दूसरा साधन कहा है तप। तप से मुख्य अभिप्राय वेदान्त में शरीर को व्यर्थ पीड़ा देने का कहीं भी नहीं लिखा।

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।

अर्थात् मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम तप है। इससे विपरीत सांप्रत तप एकादशी शिवरात्रि आदि के उपवास, कार्तिक स्नान और माघ स्नान, पञ्चाग्नि साधन आदि अशास्त्रीय ही मान लिये गये हैं। तीसरा साधन 'सम्यग् ज्ञान' ठीक ठीक ईश्वर स्वरूप का तथा संसार के स्वरूप का ज्ञान होना है। परन्तु आज कल ईश्वर के विषय में ज्ञान का इतना अभाव है कि कहीं उसकी चर्चा भी सुनने में नहीं आती। जहां देखो वहां मंदिर आदि में भागवत, रामायण, महाभारत, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों की कथा हुआ करती है। मनुष्य को सुने अनुसार ही ज्ञान होता है यह नियम है। उक्त भागवतादि ग्रन्थों को सुनकर आज जनता की प्रवृत्ति मोक्ष से विमुख हो रही है। उपनिषदों की जो परा विद्या है और जिससे अक्षर अर्थात् अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति होती है, उसकी कहीं वार्ता भी सुनने में नहीं आती। संस्कृत का एक कवि कहता है कि:—

श्रुतिर्नष्टा भ्रष्टा स्मृतिरपि पुराणं विगलितं,
गता लोपं सर्वे प्रचुरतरवेदान्तनिवहाः।
इदानीं लोकानां कबिरवचनान्मोक्षपदवी;
न जाने को हेतुः शिव ! शिव ! कलेरेष महिमा ॥

उपर्युक्त श्लोक में कवि ने वर्तमान समय का अच्छा चित्र खींचा है। वह कहता है कि श्रुतियां आजकल नष्ट होगईं,

स्मृतियां भ्रष्ट होगईं, पुराण गलित होगये और बड़े २ वेदान्त के ग्रथ आज लुप्त हो गये। इस समय तो केवल कबीर के वचन से ही लोगों ने मोक्ष प्राप्ति मान ली है। इसका क्या कारण है, कवि कहता है, वह मेरी समझ में नहीं आता। फिर आगे कवि यही कह देता है कि हे परमात्मा! यह सब कलिकी ही महिमा है और कुछ नहीं। ईश्वर प्राप्ति में चौथा साधन कहा है ब्रह्मचर्य। विषयासक्ति से निवृत्त होना ही ब्रह्मचर्य कहाता है। जिसका मन अत्यन्त विषयासक्त हो उसको ईश्वर का विचार करने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् ॥ न्यायदर्शने ॥

गोतम मुनि न्यायदर्शन में कहते हैं कि एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान न होना यह मन का लक्षण है। यदि मन विषयों में आसक्त होगा तो वह ईश्वर संबन्ध में विचार नहीं कर सकता। मनुजी कहते हैं 'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः' चित्तवृत्तियों का विषयों से निरोध करके मनुष्यको परमात्मा सूक्ष्मताको देखनी चाहिये, ऐसा ही योगदर्शन में भी लिखा है कि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' विषयों से चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है और योग से मनुष्य परमात्मा का अनन्य प्रेम करने वाला बन सकता है। इस-लिए मोक्षानन्द की इच्छा उसी को होगी जो ब्रह्मचर्यवान् अर्थात् विषयासक्ति से नित्य वैराग्यवान् हो।

वर्तमान समय में बहुसंख्याक लोग ईश्वर प्राप्ति में मूर्ति-पूजा को भी बहुत उपयोगी साधन दिखाते हैं और कहते हैं कि सर्व साधारण के लिए ईश्वर प्राप्ति में यह ऐसा सरल तथा सुख-पूर्वक साधन है कि इससे बढ़कर क्लेशरहित दूसरा साधन हो ही नहीं सकता। इस साधन की उपयोगिता में विद्वानों की ओर से जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे सब इस छोटे से निबन्ध में लिखकर उनका उत्तर देना अशक्य होने से केवल नमूने के तौर पर एक दो

युक्तियों का ही हम उत्तर देंगे। मूर्तिपूजकों में भी उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे तीन भेद हैं। उनमें से अधम तो मूर्ति में मन्त्रों से प्राणप्रतिष्ठा आदि करके उस मूर्ति को साक्षात् ईश्वर ही समझते हैं, परन्तु मध्यम भेद वाले उसको साक्षात् ईश्वर तो नहीं किन्तु ईश्वर प्राप्ति का प्रधान साधन मानते हैं। इसपर वे दृष्टान्त देते हैं कि गवर्नमेण्ट का दस हज़ार का भी नोट होता है। उसका काग़ज़ कुछ भी मूल्य नहीं रखता तो भी वह काग़ज़ दस हज़ार का काम देता है। इसी प्रकार यह ठीक है कि वास्तव में मूर्ति ईश्वर नहीं तथापि दस हज़ार के नोट के काग़ज़ के समान मूर्ति भी ईश्वर का काम देती है। इसपर हमारा उत्तर यह है कि ईश्वर के कामों में से एक भी काम मूर्ति नहीं देती। सृष्टि को उत्पन्न करके उसका संरक्षण करना और उसका संहार करना यह ईश्वर के 'जन्माद्यस्ययतः' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार मुख्य तीन काम हैं। मूर्ति न तो जगत् को उत्पन्न करती, न पालन करती और न किसी का संहार करती है। मूर्ति कभी पूजक के हाथ से गिरकर उसका नाक, कान टूट जावे तो वर्षों तक वैसी ही बनी रहती है। जब मूर्ति अपनी नाक वा कान भी नया नहीं बना सकती तब जगत् को उत्पन्न करना तो दूर रहा। इसलिए उक्त दृष्टान्त इस अंश में नहीं घट सकता। अब नोट के दृष्टान्त का भी विचार करें। नोट सरकार की एक हुंडी है। सरकार के उस पर हस्ताक्षर हैं। केवल हस्ताक्षर से भी काम नहीं चल सकता किन्तु सरकार की प्रजा में वैसी पत भी है। वास्तव में पत की क़ीमत है, काग़ज़ की नहीं। पत से ही किसी की लिखी हुई हुंडी स्वीकारी जाती है। अन्यथा वह हुंडी लिखकर धन इकट्ठा नहीं कर सकती। हम वेदानुयायी हैं इसलिए हमें वेद सर्वोपरि प्रमाण हैं। यदि कोई मूर्ति रूप हुंडी पर वेद के हस्ताक्षर दिखादे अर्थात् वेद का प्रमाण देदे तो हम निर्विकल्प इस

मूर्तिरूप हुंडी को स्वीकार लें। वेद के प्रमाण के बिना मूर्तिरूप हुंडी को हम खड़ी ही रक्खेंगे। वेद से भिन्न ग्रन्थों के प्रमाण मूर्तिपूजक दिखावेंगे तो वेदानुयायियों के समीप वेदों के समान अन्य ग्रन्थों की पत नहीं है।

कोई ईश्वर प्राप्ति में मूर्तिपूजा साधनभूत होने में दूसरा दृष्टान्त यह देते हैं कि किसी के मकान पर मेहमान आए। मकान में सास और बहू दोनों ही थीं। सासने बहूसे कहा बेटा बहू! एक सेरकी पूरियां घी में तलडालो। परंतु घी घर में है वा नहीं? बहूने कहा दूध है, दूध में तल डालती हूं। सासने कहा दूध में पूरियाँ नहीं तली जातीं। बहूने कहा जिस घी में पूरियां तली जाती हैं, वह घी इसी दूध में है इस लिए क्यों न तली जायंगी? सासने कहा, घी इसी दूध में है यह ठीक है, परन्तु जब तक घी दूध से पृथक् न किया जावे तब तक तलने के काम में नहीं आ सकता। इस दृष्टान्त के अनुसार मूर्तिपूजक यूं कहते हैं कि जिस प्रकार घी सब दूध में व्यापक होने पर भी दूध से पृथक् करने पर ही तलने का काम देसकता है, इसी प्रकार ईश्वर सब संसार में व्यापक होने पर भी मूर्ति में पृथक् किये बिना उसकी उपासना नहीं हो सकती। यहाँ भी दृष्टान्त दार्ष्टान्त में नहीं घटता। दूध के सब भागों में व्यापक घी अलग करके पूरियां तली जाती हैं, उसके अनुसार क्या संसार में व्यापक ईश्वर संसार से खींचकर मूर्ति में लाया जाता है? यदि ऐसा हो तो सर्वव्यापक ईश्वर को एक देशी बनालेना मूर्तिपूजकों के अधीन हुआ! परंतु यहां मूर्तिपूजकों को यह विचार करना चाहिये कि कूटस्थ नित्य परमात्मा सर्वदेशी से एकदेशी होजावे, इस में कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है? परस्पर विरोधी दो गुण एकत्र ठहर नहीं सकते यह हम ऊपर कह आए हैं। उक्त दृष्टान्त का भाव मूर्तिपूजक समझे नहीं। उपनिषदों में लिखा है:—

यः प्रकृत्यां तिष्ठन्प्रकृत्या अन्तरो यं प्रकृतिर्न वेद यस्य प्रकृतिःशरीरम्

अर्थात् जो प्रकृति में ठहराहै परंतु प्रकृति से भिन्न है, प्रकृति जिसको नहीं जानती परंतु प्रकृति जिसका शरीर है। उपासना के समय विकारिणी प्रकृति अथवा तज्जन्य पृथिव्यादि से निर्विकार परमात्माको पृथक् समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये। इस भाव से पृथक् अभिप्राय निकालकर ईश्वर को घो के समान संसार से पृथक् करना यह कथन युक्ति तथा प्रमाण से शून्य होने के कारण सर्वथैव त्याज्य है।

यहां तक किसी वस्तु की प्राप्ति में उस वस्तु का स्वरूप, वह वस्तु कहां प्राप्त हो सकता है उसका स्थान और उस वस्तु को प्राप्त करने के साधन यह तीन बातें लिख दीं। अब वस्तु की प्राप्ति में चौथी बात जो पुरुषार्थ उसको लिखकर हम इस निबन्ध का उपसंहार करेंगे। किसी कार्य सिद्धि के लिए पुरुषार्थ की अपेक्षा है। तब मोक्ष प्राप्ति जैसे महान् कार्य के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता होनी ही चाहिये यह निर्विवाद है। सांख्य दर्शन में कपिलाचार्य कहते हैं कि :—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः॥ सांख्य।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों में सब दुःखों का समावेश हो जाता है उनकी निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। उक्त पुरुषार्थ का आरम्भ जिस जीवने जन्मान्तरों से किया हो वही मुमुक्षु वर्तमान जन्म में मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है। कठोपनिषद् में नचिकेता का उदाहरण स्पष्ट कर रहा है कि उसको बालक पन से ही आत्मज्ञान की इच्छा इतनी प्रबल क्यों हो उठी? इसका उत्तर यही देना पड़ेगा कि उसके जन्मान्तरों के संस्कारों का ही यह माहात्म्य था। अन्यथा इतनी

छोटी अवस्था का बालक गंभीर प्रश्न सागर में कभी न कूदता! यह संस्कार कहां से और कैसे आरम्भ होता है, इस बात का विचार इस छोटे से निबन्ध में करना दुष्कर है। इसलिए हम मुमुक्षु के वर्तमान जन्म में पूर्व संस्कारों का आरम्भ कहां से होता है, इसी बात का यहां विचार करेंगे। कवि कहता है:—

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं, स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता, वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम्॥

भर्तृहरि कहता है, परमात्मा में जिसकी भक्ति, अन्तःकरण में जन्ममरण का भय, बन्धु वर्ग से स्नेहका न होना, विषयासक्ति के विकारों का मन में न आना, संसर्ग दोषों से रहित एकान्त स्थान में प्रेम और वैराग्य यह छः बातें मनुष्य में आजावें तो फिर ईश्वर से मांगने योग्य कौनसी बात शेष रही? अर्थात् कोई नहीं। यह छः बातें ही मनुष्य को मोक्ष देने वाली हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का जीवन चरित्र जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि अपनी भगिनी और अपने चचा की मृत्यु से उनको इतना भय हुआ कि वे गृह और अपने परिवार को त्याग कर मृत्यु से बचने का उपाय कथन करने वाले गुरु की खोज में चल दिये! सैंकड़ों मनुष्यों को मरते हुए हमने देखा, सैंकड़ों मनुष्यों का अंत्येष्टि संस्कार हमने अपने हाथों से किया परन्तु ऐसा वैराग्य हमको कभी न हुआ जैसा कि ऋषि दयानन्द जी को हुआ। इसी का नाम है जन्मान्तर कृत संस्कार! नचिकेता भी ऐसा ही संस्कारी था। जब से वह कुछ समझने लगा, तभी से वह ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करने लगा। यद्यपि समीप में बहुत से गुरु मिल सकते थे तथापि उनसे वह प्रसन्न नहीं हुआ। अन्त में बहुत खोज करने के बाद उसने यमाचार्य को प्राप्त किया। यमाचार्य ने उसकी परीक्षा

करने के लिए साँसारिक उत्तमोत्तम सुखों का उसको लोभ दिखाया परन्तु किसी से भी लुब्ध न होकर उसने आत्मज्ञान का ही प्रश्न आगे रक्खा। सांप्रत यत्र तत्र कान फूँकने वाले गुरु सहस्रों की संख्या में तैयार हैं। इस प्रकार पांच मिनिट में कान फूँक कर शिष्य बनाने वाली गुरु शिष्य परम्परा जिस देशमें बड़े वेग से चलती हो, उस देश में सच्चे मोक्ष मार्ग का उपदेश करने वाला गुरु दुर्लभ हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जिधर देखो उधर उलटा ही पुरुषार्थ मोक्षप्राप्ति के लिए होता हुआ दीखता है। हरिद्वारादि चारों धामों के करने में बड़े २ प्राणान्तक कष्ट सहे जाते हैं, उपवासादि का क्लेश इतना उठाया जाता है कि कभी कभी किसी का इसमें प्राणान्त भी होगया है, इधर से उधर व्यर्थ घूमने में जनता के लाखों रुपये खर्च होकर अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ जा रहा है। सच्चे गुरु को तथा सच्चे मोक्षशास्त्र को ढूंढने का प्रथम पुरुषार्थ होना चाहिये। इसके अनन्तर सदाचारी बनने में यथाशक्ति पुरुषार्थ करना चाहिये, क्योंकि विना सदाचार के मोक्षप्राप्ति की आशा केवल निराशा ही है। अशास्त्रीय परिश्रम करने में मनुष्य कितना ही पुरुषार्थ करे उसका फल शून्य के सिवाय कुछ नहीं होगा। किसी विद्वान् ने वर्तमान समय के मूढतायुक्त प्रयत्न देखकर बहुत ही प्रासंगिक लिखा है वह कहता है :—

मीनः स्नानरतः फणी पवनभुग् मेषस्तु पर्णाशनो,
नीराशः खलु चातकः प्रतिदिनं शेते बिले मूषकः।
भस्मोद्धूलनतत्परः खलु खरो ध्यानाधिरूढो बकः,
सर्वे किं ननु यान्ति मोक्षपदवीं ज्ञानप्रधानं तपः ॥

मछली सर्वदा जल में रहकर स्नान में तत्पर रहती है, सर्प

केवल पवन खाकर ही अपनी जीविका करता है, भेड़ सर्वदा वृक्षों के पत्ते खाकर ही रहती है, चातक पक्षी सर्वदा उदासचित्त रहता है, चूहा प्रतिदिन भूमि में बिल बना कर ही रहता है, गदहा सर्वदा भस्म में लोटा करता है और बगला नदी आदि के तटपर आंखें मूंदकर ध्यान में तत्पर दीखता है। श्लोक का बनाने वाला कवि कहता है कि क्या यह उपर्युक्त सबके सब मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसका उत्तर देता है, नहीं। इस प्रकार सर्वदा स्नान करना, कुछ न खाना आदि व्यर्थ परिश्रम से कुछ न होगा, किन्तु ज्ञानपूर्वक तप ही मोक्ष को पहुंचाता है।

यहां कई मनुष्य यह कहते हैं कि आपका वेदान्त प्रतिपादित मोक्षमार्ग सच्चा है उसको हम मिथ्या नहीं कहते, परंतु अज्ञानी जनता ऐसे गहन मार्ग पर चलने का ज्ञान वा बुद्धि नहीं रखती, तब उसके लिए मूर्तिपूजा और गंगा, पुष्करादि तीर्थों में स्नान करके ज्ञान वा मोक्ष के मार्ग का सरल साधन दिखाया जाय तो इस में क्या बुराई है? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि मूर्तिपूजादि में किया हुआ पुरुषार्थ उलटा मनुष्य का अधःपात कराने वाला हुआ। सांप्रत मोक्षमार्ग के विषय में शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही अज्ञानी बन रहे हैं! बड़े बड़े नगरों से लेकर छोटे छोटे ग्रामों तक कोई देखे तो उसको एकभी ऐसा महात्मा न दीखेगा जो सच्चे वेदान्त प्रतिपादित मोक्ष मार्ग पर चल रहा हो। प्रश्न कर्ता कहता है मूर्तिपूजादि का मार्ग अज्ञानियों के लिए है। अज्ञानी तो कभी दिन भर में एक बार मूर्तिका दर्शन करने मन्दिर में जाता हो परन्तु शिक्षित ही मन्दिरों में अधिक धक्के खाते हुए देखे जाते हैं! शिक्षितों में एक वर्ग ऐसा भी है कि न तो वह मूर्तिपूजादि के मार्ग को माने और न सच्चे वेदान्तोक्त मोक्ष मार्ग को माने। खाना, पीना, शरीर को सजाने में सर्वदा तत्पर रहना यही उसका मोक्ष मार्ग है। मरण

क्या है और मरनेके बाद पापपुण्यानुसार जीवात्माकी क्या गति होती है, इस बातका विचार करने के लिए उसके पास समय ही नहीं है। मंदिरों में वर्षों तक मूर्ति की पूजा करने वाले बाबाजी और तीर्थों में रहने वाले पंडा जी, प्रायः मूढ़ ही देखे जाते हैं। न तो यह विचारे सभ्यतापूर्वक बात करना जानते हैं और न इनमें कुछ शिष्टाचार देखा जाता है। कुछ ऐसे हों जो सभ्यता से बोलना जानते हों परंतु इतना ज्ञान उनको सत्संगति से अथवा अच्छे अच्छे ग्रन्थों के पढ़ने से ही आया है, मूर्ति से अथवा तीर्थों में रहने से नहीं। इस लिए हम तो कहेंगे कि मूर्तिपूजा और तीर्थस्नानादि से मोक्ष मिलता है यह अज्ञान भारतवर्ष में न फैलता तो आज इस भारतवर्ष में सच्चे मोक्षमार्ग को जानने वाले तथा उस मार्ग पर चलने वाले पांच, दस वा बीस महापुरुष अवश्य दीखते, और उनके दर्शन से संसार के लोग भारतवर्ष के सौभाग्य के अवश्य गीत गाते! आज यहां की यह दशा है कि जो भारतवर्ष प्राचीन समय में पारमार्थिक विषय में सब का गुरु था, आज उसी की संतान एक कंकरी से लेकर पहाड़ तक को ईश्वर मान कर पूज रही है।

अब यहां कोई यह प्रश्न करे कि मूढ़ जनता को ईश्वर वा मोक्ष की प्राप्ति के विषय में क्या उपाय करना चाहिये? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि परम कारुणिकता से मूढ प्रजा के लिए यह प्रश्न अवश्य हो सकता है, इसमें संदेह नहीं। ऐसी मूढ़ जनता के लिए शास्त्रों ने एक ही मार्ग दिखाया है कि "तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः"। उपनिषद् में लिखा है कि अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्य को आत्मज्ञानी के समागम में रहना चाहिये और उसकी सेवा करनी चाहिये। उक्त आत्मज्ञानी के समागम से मनुष्य के मन में सच्चे मोक्ष मार्ग का प्रेम बढ़ता है। यही मूढ़ जनता के लिए ईश्वर वा मोक्ष प्राप्ति की पहिली सीढ़ी है। मनुस्मृति में भी लिखा है:—

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः० ।

आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः । तेन सह विवादपरित्यागेन तत्संतुष्ट्या तु ब्रह्मलोकप्राप्तिः गौणं ब्रह्मलोकेशत्वम् । कुल्लूकभट्टः ।

आचार्य को ब्रह्मलोक का प्रभु इसलिए कहा है कि यदि मनुष्य आचार्य के साथ विवाद आदि छोड़ कर उसको संतुष्ट रक्खे तो वह संतुष्ट हुआ आचार्य उक्त मनुष्य को ज्ञान देकर ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग सुलभ करदेता है । यहां ब्रह्म की प्राप्ति आचार्य के उपदेश के अधीन होने से आचार्य को ब्रह्मलोक का स्वामी कहा है वास्तव में नहीं । आजकल के आचार्यों ने उक्त श्लोक के समझने में बड़ी भूल की है, वे उक्त कुल्लूक की टीका को देखें । स्वामी शंकराचार्य जी ने भी लिखा है कि :—

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका; भवति भवार्णवतरणे नौका ॥मोहमुद्गरः

एक क्षणभर भी सत्पुरुष की संगति की जावे तो वह संसार सागर के तरने में नौकारूप हो जाती है । यदि कोई मनुष्य पाणिनीय अष्टाध्यायी जानना चाहे तो उसके लिए दो ही मार्ग सर्व संमत हैं । प्रथम मार्ग यह कि यदि पढ़ने वाले को वृत्तिका अर्थ लगाने योग्य संस्कृत आता हो तो वह स्वयं काशिका वृत्तिको देखकर अष्टाध्यायी के सूत्रों का अर्थ जाने । अथवा जिस विद्वान् ने अष्टाध्यायी पढ़ी हो, उससे शिष्य बनकर पढ़े । इन दो मार्गों के अतिरिक्त कोई कहे कि अजी ! आप इतनी झंझट में क्यों पड़ते हो ? लो हम तुम्हें एक अत्यन्त सहल मार्ग पाणिनीय व्याकरण के पढ़ने का दिखाते हैं । तुम अष्टाध्यायी की मूर्ति बनाकर उसकी षोड़शोपचार से पूजा किया करो, तुम तकड़े वैयाकरण बन जाओगे ! इस प्रकार उस व्याकरण के जिज्ञासुको व्याकरण की मूर्तिपूजा में कोई लगादे तो

वह उस जिज्ञासुका शत्रु हुआ वा मित्र, इसका उत्तर पाठक महाशय ही अपने मनमें देखलेवें, हमे यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है। बस इसी प्रकार वर्तमान समय में वेदान्त प्रतिपादित मोक्षमार्ग को अति दुष्कर कर्म समझ कर जिन्हों ने अज्ञानियों के लिए मूर्तिपूजा अति सरल समझ कर निकाली है, उन्हें अज्ञानियों के सच्चे शत्रु समझिये। इन मूर्तिपूजा तथा तीर्थस्नानादि अज्ञानजन्य साधनों में फंसकर मूढ़ जनता सच्चे मोक्षमार्ग से इतनी दूर निकल गई है कि अब उसको लौटा कर प्राचीन मोक्षमार्ग पर लाना उपदेशक के लिए बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है!

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। भगवद्गीता।

जब संस्कारी मनुष्य सच्चे मोक्षमार्ग से लगता है, तब वह अनेक जन्मों में सिद्ध बनकर परागति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मूर्तिपूजकों को तो अपने जीवन में जब सच्चे संस्कार का लेश भी नहीं लगता तब उनको अनेक जन्मान्तरों में भी मोक्ष की आशा ही नहीं। इस लिए मोक्ष प्राप्ति का चौथा साधन गुरु तथा शास्त्र का सेवन ही कहा है। इनको छोड़ कर अन्य साधनों में पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, वह तो मोक्षमार्ग से उलटा मार्ग है।

जिस मोक्षकी प्राप्ति के लिए यह अल्प लेख लिखा गया है उस का स्वरूप क्या है यह भी यहां लिख देना आवश्यकीय है। प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य इस पांचभौतिक स्थूल भोगायतन शरीर से छूट कर सतरह तत्वों वाले लिङ्ग शरीर से युक्त जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, उसी का नाम है ब्रह्मलोक वा मोक्ष की प्राप्ति है। कूटस्थ नित्य ब्रह्म सर्वत्र होने से उस की प्राप्ति किसी लोकान्तर में जाने का नाम नहीं है। 'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः'। उपनिषदों में ब्रह्म को ही ब्रह्मलोक कहा है। वेदान्त में

प्रकृति को दुःखमय और ब्रह्म को आनन्दमय कहा है। जैसे जल के समीप रहने से शीत का और अग्नि के समीप रहने से उष्णता का अनुभव होता है वैसे ही ब्रह्म का साक्षात्कारवान् पुरुष जिस एकरस आनन्द का अनुभव करता है उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता वह अनुभवगम्य है। मुक्त जीवात्मा त्रिविध दुःखों से अत्यन्त छूट जाता है। फिर उसको न जल भिगो सकता वा डुबा सकता है, न अग्नि जला सकती है और न पवन उड़ा सकती है। मोक्षप्राप्ति ही जीवात्मा के स्वातन्त्र्य की परम सीमा है। मनु में लिखा है कि 'सर्वमात्मवशं सुखम्'। जीवात्मा का दूसरे किसी के वश में न रह कर आप ही अपने अधीन रहना ही परम गति है, यही मोक्ष और यही ब्रह्मप्राप्ति है।

अब इस लेख के उपसंहार में हमें इतना ही कहना है कि सच्चे वेदान्तप्रतिपादित मोक्षमार्ग की कितनी आवश्यकता है, यह हमने अन्वय और व्यतिरेक से इस निबन्ध में यथामति वर्णन करके दिखा दी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय में मोक्ष को ही परमपुरुषार्थ माना है और इसी से ही बुद्धिप्रधान मनुष्य जीवन की सफलता शास्त्रों में मानी है। उस मोक्षमार्ग का संपूर्ण ज्ञान होना तो दूर रहा परंतु उसकी पहिली सीढ़ी का भी मनुष्य जीवन में ज्ञान न होना, इससे बढ़कर शोक की वार्ता कौनसी हो सकती है? इसलिए मुमुक्षुजनों के हित के लिए हम उपसंहार में फिर लिख देते हैं कि जब तक जनता की प्रवृत्ति अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और जलमय तीर्थों से पापों की निवृत्ति होकर मोक्ष मिलना, इन तीनों बातों में ही रहेगी, तब तक मोक्ष की आशा सहस्रों जन्मों में भी पूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि उपर्युक्त तीनों ही मोक्ष के मार्ग ही नहीं किन्तु मोक्षमार्ग से दूर ले जाने वाले हैं। ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु और वेदान्तशास्त्र यही सच्चे तीर्थ हैं। जो मुमुक्षु जन अपने हिता-

हितको समझकर इन तीर्थों में स्नान करेंगे वे अवश्य ही मोक्षानन्द के भागी बनेंगे। योगभाष्य में लिखा है कि:—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा, स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः; स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

सच्चा मुमुक्षु जब सोता, बैठता और मार्ग से चलता हुआ सर्वदा अनेक वितर्क रूपजाल को नष्ट करके शान्तचित्त होजाता है तब उसके अन्तःकरण में निरंतर इसी बातका निदिध्यास रहता है कि जन्म मरण रूप इस संसार के बीजका नाश कैसे हो ? बस यही मुमुक्षु के मोक्षप्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी है। जब ऐसी दशा किसी मुमुक्षु मनुष्य की होती है, तब समझ लेना चाहिये कि वह मोक्षानन्द का भागी बनकर मुक्त होजायगा। ओं शांतिः ३।

ओ३म्

नास्तिकवाद

(सांख्याचार्य श्री देवेन्द्रनाथ शास्त्री, देहली)

प्रथम वक्तव्य

इस संसार में ऐसे बहुत ही कम मनुष्य हैं जो किसी न किसी रूप में ईश्वर को न मानते हों, यहां तक कि जिनको हम नास्तिक कहते हैं उनमें भी ऐसा कोई नहीं है जो ईश्वर के अस्तित्व से निषेध करे। इस समय इस पृथ्वी पर सबसे अधिक संख्या बौद्धों की है जिनको हम नास्तिक कहते हैं किन्तु वे भी बुद्ध को ईश्वर मानकर उसकी वन्दना और पूजा करते हैं। इसी प्रकार जैनी भी महावीर स्वामी और अर्हन् को ईश्वर मानते हैं। यदि नास्तिक का अर्थ यह हो कि जो ईश्वर को न माने वही नास्तिक है तो कदाचित् ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ही अल्प मिलेगी जो किसी रूप में भी ईश्वर को नहीं मानते हों। बौद्धों के विवेक विलास नामक ग्रन्थ में लिखा है कि:—

"बौद्धानां सुगतोदेवो विश्वं च क्षणभंगुरम्"

अर्थात् बौद्धों के देव (ईश्वर) सुगत हैं। इसी प्रकार जैनियों के माननीय विद्वान् चन्द्रसूरि ने भी आप्तनिश्चयालंकार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि:—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥

अर्थात् सर्वज्ञ, रागद्वेषादि विहीन, त्रैलोक्यपूजित, यथार्थ

थका अर्हत्‌देव ही परमेश्वर हैं। इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैनी भी ईश्वर की सत्ता से निषेध नहीं करते। फिर क्यों कर उनको नास्तिक कहा जावे? फिर यदि इनको यह कह कर नास्तिक कहा जावे कि ये एक मनुष्य विशेष के उपासक होने से नास्तिक हैं तो इस प्रकार के तो प्रायः हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त, पाशुपत, रामानुज आदि २ संप्रदायी लोग भी तो एक न एक मनुष्य विशेष के उपासक हैं, फिर उनमें और इन मतों में भेद ही क्या है? क्यों न इनको भी नास्तिक कहा जावे या क्यों न उनको भी आस्तिक माना जावे?

नास्तिक आस्तिक का भेद

इसका उत्तर यह है कि जैन, बौद्ध और इसी प्रकार के अन्य नास्तिकों को छोड़कर शेष हिन्दू संप्रदाय के सब आचार्य निराकार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी जगत् के कर्त्ता, हर्त्ता, प्रभु के अंश से शिव और विष्णु का अस्तित्व मानते हैं अर्थात् जिस प्रकार से आस्तिक लोग ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, वैसा ही वह भी करते हैं, भेद केवल नाम मात्र का है। हम रामानुजाचार्य के वाक्यों से ही स्पष्ट किये देते हैं।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः॥
तदर्थं लीलया स्वीयाः पंचमूर्त्तीः करोति वै।
प्रतिमादिकमर्चास्यादवतारास्तु वैभवाः॥
संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
व्यूहश्चतुर्विधो ज्ञेयः सूक्ष्मं संपूर्णषड्गुणम्॥

तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निगद्यते ।
अन्तर्यामी जीवसंस्थो जीवप्रेरक ईरितः ॥

अर्थात् संसार का उपादान कारण, कर्त्ता और जीवात्मा का नियामक वासुदेव है, वही अपनी लीला से संकर्षणादिक की ५ मूर्तियां बना लेता है, उस ही का नाम वासुदेव है और वही ब्रह्म है। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र ने भी गीता में निराकार प्रभु के अंश से अपनी उत्पत्ति मानी है। कहने का तात्पर्य यह है कि निराकार और साकार दोनों ही की कल्पना पौराणिकों ने की है इसलिए आस्तिकों के साथ उनका कुछ विरोध नहीं है। विरोध तो उनके साथ है जो किसी मनुष्य विशेष को ही किसी अवस्था में ईश्वर मान बैठे हैं या केवल अचेतन प्रकृति को ही इस सृष्टि की नियामिका मानते हैं और इस जगत् को स्वरूप से नित्य मानते हैं, बौद्ध और जैन आदि यदि बुद्ध और जिनदेव को निराकार प्रभु का अंश मानते तो हमारा विरोध बहुत अंश में न्यून हो जाता, किन्तु वे कोई ऐसी शक्ति नहीं मानते जिससे यह संसार बनता हो या बिगड़ता हो, जो जीवों के कर्मफल की नियामिका हो, इसलिए जो लोग बुद्ध या जिन को ईश्वर मानते हैं साधारणतया वे एक मनुष्य विशेष के उपासक तो हैं किन्तु आस्तिक कभी नहीं हो सकते। आशय यह है कि जो मत या जो व्यक्ति ईश्वर-जीव-प्रकृति के शुद्ध स्वरूप को माने अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ प्रभु से इस संसार की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय माने, जो जीव और जीवों के कर्म तथा उनके अनुसार भोग माने, जो प्रकृति या परमाणु को इस सृष्टि का उपादान और परमात्मा को इसका निमित्त कारण स्वीकार करे वही आस्तिक है। यह लक्षण किसी मत विशेष के लिए हमने नहीं लिखा बल्कि इस दृष्टि से लिखा है कि इतने ही अंश

में नास्तिकों का आस्तिकों से भेद है। शेष भेद भी इसी के अन्तर्गत हैं, हमारा उद्देश हठ या पक्षपात अथवा दुराग्रह नहीं है, हम केवल इस निबन्ध में तर्कद्वारा ईश्वर की सिद्धि तथा नास्तिकों के आक्षेपों का उत्तर देंगे। वेद उपनिषद् तथा शास्त्रों के प्रमाणों को जो लोग नहीं मानते उनके लिए तर्क के सिवाय और कोई आश्रय नहीं होता इसलिए हम शुद्ध तर्क द्वारा अपने विषय का मण्डन करेंगे, आशा है विद्वज्जन इस निबन्धन को आद्योपान्त पढ़कर मुझे कृतार्थ करेंगे। शताब्दी की शीघ्रता के कारण इसे मैंने बहुत ही संक्षिप्त कर दिया है यदि पाठकों को यह रुचिकर हुआ तो अगले भाग में और भी विस्तृत व्याख्या लिख सकूँगा।

नास्तिक वाद

आस्तिक विद्वान् जिन उपकरणों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं वे ३ हैं।

(१) सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता और हर्त्ता कोई न कोई चेतन अवश्य होना चाहिये।

(२) जीवों के कर्मों का फल देने वाला कोई सर्वज्ञ चेतन अवश्य मानना चाहिये।

(३) जीवों को सृष्टि के आदि में किसी सर्वज्ञ द्वारा ज्ञान मिलना चाहिये। इसके विपरीत नास्तिक विद्वान् ईश्वर के अभाव में ये हेतु देते हैं।

(१) सृष्टि का कर्त्ता किसी भी प्रमाण से कोई चेतन सिद्ध नहीं होता अथवा सृष्टि का बनना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

(२) जीवों को कर्मों के फल और प्रकार भी मिल सकते हैं।

(३) जीवों में ज्ञान स्वाभाविक है और उसकी क्रमशः वृद्धि होती है, उनको दूसरे के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

(४) ऐसे ईश्वर के अभाव प्रतिपादक बहुत से प्रमाण हैं और उसके साधक प्रमाण नहीं मिलते।

इन चारों प्रश्नों के उत्तर मिल जाने पर नास्तिकों के सारे प्रश्न स्वयं हल हो जाते हैं। इन्हीं प्रश्नों के गर्भ में नास्तिक वाद की गहरी नींद समाई हुई है। इन्हीं के सहारे बौद्ध, जैनी, चार्वाक तथा योरोपियन नास्तिक वेदों पर प्रबल आक्रमण करते हैं। प्राचीन ऋषियों और तार्किकों ने इन्हीं प्रश्नों को बड़ी गवेषणा से हल किया है। कहना नहीं होगा कि भारतवर्षीय आर्यों का सर्वस्व इन्हीं प्रश्नों पर अवलम्बित है। प्राचीन विद्वान् भगवान् की चर्चा को भी उस की उपासना मानते थे इसीलिए महात्मा उदयनाचार्य ने लिखा है कि

न्यायचर्चेयमीशस्य मनन व्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥

अर्थात् परमात्मा की चर्चा करनी भी उपासना ही है इसी लिए हमने इस विषय को शताब्दी के लिए उपयुक्त समझ कर ले लिया था और अब यह संक्षिप्त निबन्ध विद्वानों के सामने उपस्थित है, आशा है इससे अवश्य लाभ प्राप्त होगा।

ना०-यह ईश्वर जो प्रत्यक्ष दीखता नहीं और तर्कानुमान से जिसकी सिद्धि नहीं होती, अनुभव से जो जाना नहीं जाता उसको किस प्रकार स्वीकार किया जाय।

आ०-जिस विषय को अन्य प्रमाण नहीं बताते उस विषय को वेद द्वारा जानना चाहिये। प्रत्यक्ष और अनुमान से जो विषय नहीं जाना जाता उसको शब्द प्रमाण से जाना जा सकता है। देखो श्रुति

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुः

ना०-मैं वेदों को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानता। इसलिए वेद वाक्य मेरे लिए प्रमाण नहीं, दूसरे आप कहते हैं कि वेद स्वतःप्रमाण हैं और अपौरुषेय हैं किन्तु जब तक पुरुष अर्थात् ईश्वर सिद्ध न होवे उसका ज्ञान वेद कैसे सिद्ध हो और आप वेद से ईश्वर की सिद्धि करते हैं यह अन्योन्याश्रय दोष है। इसलिए कोई और प्रमाण दीजिये ?

आ०-प्रमाणों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता क्योंकि प्रमाण किसी के आश्रित नहीं होते और यदि एक प्रमाण दूसरे प्रमाण का आश्रय लेने लगे तो फिर उस प्रमाण के लिए किसी दूसरे प्रमाण के आश्रय की आवश्यकता पड़ेगी और अनवस्था दोष आ जायगा। इसलिए प्रमाण तो स्वयम् अपने तथा अन्यपदार्थों के प्रकाशक होते हैं उनको स्वतः प्रमाण कहना चाहिये। अतः वेदों के प्रमाण्य के लिए ईश्वर के प्रमाण्य की आवश्यकता नहीं है।

ना०--कोई उदाहरण देकर इस प्रमाणवाद को स्पष्ट कीजिये।

आ०-देखिये, दीपक हर एक पदार्थ के ज्ञान कराने में प्रमाण है किन्तु अपने को दिखाने के लिए उसे और दीपक की आवश्यकता नहीं अतः वह स्वतः प्रमाण है।

ना०-आपका यह उदाहरण व्यभिचरित है क्योंकि चक्षुभी तो और पदार्थों के दिखाने के लिए प्रमाण है, उसे दीपक अथवा सूर्य्य की क्यों आवश्यकता पड़ती है? वह भी स्वतः प्रमाण होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त चक्षु सबको देखती है किन्तु अपने देखने के लिए उसे दर्पण की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

आ०-अच्छा तो प्रमाण दो प्रकार के हुए, एक स्वतः प्रमाण और दूसरे परतः प्रमाण। अब इनमें वेद को हम स्वतः प्रमाण मानते हैं इसलिए और प्रमाण की आवश्यकता क्या है ?

ना०-यदि बिना किसी युक्ति के ही वेद स्वतः प्रमाण हैं तो इंजील क़ुरान आदि ग्रन्थ भी स्वतः प्रमाण क्यों नहीं ?

आ०-नहीं, वेद सृष्टि की आदि में प्रकाशित होने के कारण और भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित होने के कारण तथा सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, निराकार प्रभु से प्रकट होने के कारण निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण हैं। यह लक्षण इंजील आदि पुस्तकों में नहीं घटता।

चा०-अच्छा तो प्रथम आप उस निराकार की किसी और प्रमाण द्वारा सिद्धि कीजिये जिसका ज्ञान वेद है। उसके सिद्ध हो जाने से वेद की सिद्धि स्वयं हो जायगी।

आ०-ईश्वर की सिद्धि में दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमान के द्वारा भी उसकी सिद्धि हो सकती है।

चार्वाक्-हमारे मत में अनुमान भी कोई प्रमाण नहीं क्योंकि उससे किसी यथार्थ वस्तु की सिद्धि नहीं होती। यदि अनुमान सत्य ही होता है तो आप इस अनुमान का खंडन कीजिये। अग्निः शीतलः द्रव्यत्वात् जलादिवत् अर्थात् आग शीतल है द्रव्य होने से जल की तरह। जो २ द्रव्य है वह वह शीतल है। अग्नि भी द्रव्य है इसलिए शीतल है।

आ०-अग्नि तो प्रत्यक्ष गर्म प्रतीत होती है फिर उसके शीतल होने का अनुमान क्योंकर हो सकता है ?

चा०-इसीलिए तो हमारा सिद्धान्त है कि अनुमान से किसी की सिद्धि नहीं होती। अनुमान के अनन्तर भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता रहती ही है इसलिए यदि ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण हो तो दीजिये।

आ०-नहीं, अनुमान का विषय अप्रत्यक्ष वस्तु है क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और यदि आप अनुमान प्रमाण नहीं मानते हो तो न्यायशास्त्र की रीति के अनुसार उसका खंडन कीजिये। केवल यह कह देने से कि हम अनुमान नहीं मानते उसका खण्डन नहीं हो सकता।

ना०-अच्छा सुनिये अनुमान कोई प्रमाण नहीं है, भ्रमादि दोषों से युक्त होने से। जो २ दोष युक्त होता है वह २ प्रमाण नहीं होता, जैसे शब्द प्रमाण।

आ०-आप ने जो भ्रमादि दोषों से युक्त होने से यह हेतु दिया इस से स्वयं ही सिद्ध होगया कि अनुमान प्रमाण होता है क्यों कि न्यायशास्त्र में हेतु को ही अनुमान कहते हैं।

ना०-अच्छा मैं यह हेतु नहीं देता।

आ०-नहीं देने से आप के पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। और आप का कथन युक्ति शून्य माना कैसे जायगा ?

ना०-नहीं मेरे कथन का अभिप्राय और है। मैं यह कहता हूं कि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान की भी सिद्धि नहीं होती। देखो वात्स्यायन का अनुमान सूत्र।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति।

अर्थात् अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है जब तक किसी वस्तु का एक देश प्रत्यक्ष न हो उसका अनुमान नहीं हो सकता। सो यदि आप ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण दें तो प्रथम उसका कोई भाग प्रत्यक्ष ज़रूर होना चाहिये। और जब ईश्वर का एक भाग प्रत्यक्ष होजायगा तो कभी न कभी शेष भाग भी प्रत्यक्ष हो ही जायगा।

आ०-हां अवश्य अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। ईश्वर की सिद्धि में भी जो मैं अनुमान देता हूं वह प्रत्यक्ष पूर्वक ही होगा।

ना०-अच्छा ईश्वर सिद्धि में आप अनुमान प्रमाण दीजिये।

आ०-क्षित्यादिकम् कर्तृजन्यम्, कार्यत्वात्, घटादिवत्।

अर्थात्, पृथिव्यादिक किसी कर्त्ता के बनाए अवश्य हैं कार्य होने से, घड़े आदि की तरह। विचार कीजिये कि इतनी बड़ी पृथ्वी, सूर्य्यादि लोक, हज़ारों मीलों के समुद्र क्या कभी बिना बनाए बन

सकते हैं। इस लिए इनका बनाने वाला कोई अवश्य होना चाहिये। आपने जो कहा था कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होना चाहिये सो ईश्वर के बनाए पृथिव्यादिक पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। इन प्रत्यक्ष चीज़ों को देख कर इन के बनाने वाले अप्रत्यक्ष ईश्वर का अनुमान होता है।

ना०—अनुमान के तीन भेद हैं १ पूर्ववत् २ शेषवत् ३ सामान्यतोदृष्ट। सो आप बताइये कि तीनों अनुमानों में से आप का अनुमान किस प्रकार का है।

आ०—यह शेषवत् अनुमान है। जिसका अर्थ है कार्य्य से कारण का ज्ञान।

ना०—तो जब तक यह दृश्य जगत् कार्य सिद्ध न हो जावे तब तक कार्य्यत्वात् यह हेतु साध्यसम हेत्वाभास है। इस लिए आपका अनुमान ठीक नहीं। आप प्रथम इस जगत् को कार्य्य सिद्ध करें।

आ०—इसके लिए भी अनुमान सुनिये क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्, घटादिवत् अर्थात् पृथिव्यादिक कार्य हैं, सावयव होने से, घड़े आदि की तरह।

ना०—आप का यह अनुमान भी ठीक नहीं है। पहले आप सावयव का अर्थ कीजिये। क्या जो अवयवों के साथ रहे वह सावयव होता है, या जो अवयवों से बने वह सावयव होता है? यदि पहली बात ठीक है तो अवयवों के साथ तो अवयवी भी रहता है जो नित्य होता है और आप इस हेतु से जगत् को अनित्य सिद्ध कर रहे हैं। इस लिए आप का यह हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास हुआ। यदि आप कहें कि सावयव का अर्थ अवयवों से बनना है तो प्रथम यह जगत् अवयवों से बना, यह सिद्ध हो जावे तब तो इसको सावयव कहें और बिना पहले सावयव माने यह जगत् बना हुआ है यह सिद्ध नहीं होता इस लिए

अन्योन्या श्रय दोष हुआ। दूषित होने से अनुमान ठीक नहीं है।

आ०-यदि सावयवत्वात् हेतु दूषित है तो मैं दूसरा हेतु परिणामित्वात् देता हूं अर्थात् यह जगत् कार्य है परिणाम वाला होने से। जो २ वस्तु परिणामी होती हैं वे २ कार्य अथवा अनित्य होती हैं जैसे घड़े वगैरह।

ना०-प्रत्येक वस्तु परिणामी होने से अनित्य नहीं होसकती क्योंकि सांख्य शास्त्र पुकार पुकार कर कह रहा है कि (परिणामि नित्या प्रकृतिः) अर्थात् प्रकृति परिणाम वाली होने पर भी नित्य है। संसार में भी दो प्रकार के पदार्थ होते हैं १ परिणामि नित्य दूसरे अपरिणामि नित्य। जिन में ईश्वर अपरिणामि नित्य है और प्रकृति परिणामि नित्य है। जगत् को यदि आप के कथनानुसार परिणामी मान भी लें तब भी उस के नित्य होने में कोई दोष नहीं है और यदि यह कहा जाय कि समष्टि रूप से जगत् में भी परिणाम नहीं होता तब भी कोई दोष नहीं। आप ही बताइये कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी आदि किस ने बिगड़ते देखे हैं। इस लिए परिणामित्वात् हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्यों कि आप के माने हुए सिद्धान्त का ही विरोधी है।

आ०-अच्छा यदि यह भी हेतु दूषित है तो दृश्यत्वात् हेतु रहने दीजिये अर्थात् यह जगत् अनित्य है दृश्य होने से घड़े आदि की तरह। जो २ वस्तु दृश्य होती हैं वह २ अनित्य होती हैं।

ना०-आपका यह भी हेतु दूषित है आप कहते हैं कि जो २ पदार्थ दृश्य होते हैं वे २ अनित्य होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो दृश्य नहीं होते वे नित्य होते हैं जैसे आत्मा, किन्तु विचार कीजिये कि बुद्धि दृश्य नहीं है अर्थात् दीखती नहीं है किन्तु अनित्य है। शब्द दीखता नहीं है किन्तु अनित्य है।

आ०-अच्छा तो विनाशित्वात् हेतु रहने दीजिये अर्थात् यह जगत्

अनित्य है विनाशी होने से। जो २ विस्तु विनाशी होती हैं वह वह अनित्य होती हैं। जगत् भी विनाशशील है अतः अनित्य है।

ना०-आपका विनाशित्वात यह हेतु साध्यसम हेत्वाभास है। आप जगत् को अनित्य सिद्ध करते हैं विनाशी मानकर तो विनाशी सिद्ध कीजिये किसी और हेतु से।

आ०-विनाशी होने में किसी और हेतु की क्या आवश्यकता है? क्या घट पटादि पदार्थ विनाश को प्राप्त नहीं होते और क्या ये जगत् नहीं हैं।

ना०-हां घट पटादि पदार्थ विनाशी अवश्य हैं किन्तु इनको जगत नहीं कहा जा सकता।

आ०-तो और क्या कहा जा सकता है?

ना०-सूर्यादिक लोक और यह पृथ्वी समष्टिरूप से जगत् हैं और घट पटादि पदार्थ इस जगत् के अंश हैं।

आ०-जब पृथ्वी के अंश से घट उत्पन्न हुआ है तो पृथ्वी और घट में अंशांशिभाव हुआ। जिस तरह शरीर के हाथ पैर अंग हैं किंतु वे शरीर से भिन्न नहीं हैं इसी तरह पृथ्वी के जो घट पटादि अंग हैं वे भी पृथ्वी ही मानने पड़ेंगे जैसे जड़ से लेकर ऊपर की शाखा तक एक ही वृक्ष होता है, उस वृक्ष का तना दो सौ वर्ष तक बना रहता है और पत्ते प्रति वर्ष झड़ जाते हैं। इससे क्या यह सिद्ध होता है कि वृक्ष का तना तो नित्य है और पत्ते अनित्य हैं।

ना०-आपका दृष्टान्त ठीक नहीं। वृक्ष और पत्ते तो सब इसी पृथ्वी के अंग हैं इस लिए अनित्य हैं परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जिस तरह प्रकृति नित्य है और प्रकृति के कार्य अनित्य हैं इसी तरह पृथ्वी नित्य है और पृथ्वी के सब कार्य अनित्य हैं।

आ०-आपका दृष्टान्त ठीक नहीं। प्रकृति के कार्य को प्रकृति नहीं किन्तु विकृति कहते हैं। प्रकृति नित्य है और विकृति अनित्य है। सत्व रज तम की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और वह नित्य है किन्तु प्रकृति का कार्य जो विकृति है वह अनित्य है। यह दृष्टान्त यहां नहीं घट सकता क्योंकि घट पटादि पदार्थ पृथ्वी से भिन्न नहीं हैं। क्या आप बता सकते हैं कि पृथ्वी और घट में क्या अन्तर है? जैसे सोने और उसके बने गहने में आकृति के सिवाय और कोई भेद नहीं होता इसी तरह पृथ्वी और पृथ्वी के बने पदार्थ भी पृथ्वी ही कहे जायंगे। और जब घट पटादि कार्य विनाश शील हैं तब पृथ्वी भी विनाश शील अवश्य है इसलिए विनाशित्वात् यह हेतु ठीक है।

ना०-आपका कथन युक्ति संगत नहीं है। जब हम पृथ्वी को नष्ट होता कभी नहीं देखते तब यह कैसे निश्चय हो कि यह विनाशिनी है। हां! इसके विपरीत इसके कार्यों को हम रोज़ बनता और बिगड़ता देखते हैं। क्या किसी ने भी सूर्य्य और पृथ्वी को नष्ट होते देखा है?

आ०-नहीं देखा तो वेद में सृष्टि की आयु का वर्णन कैसे आता और

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथ्वीञ्चा न्तरिक्षमथो स्वः ॥

अर्थात् प्रलय के अनन्तर परमात्मा ने सूर्य्य चन्द्रमा द्युलोक पृथ्वी आदि पूर्व कल्प के अनुसार बनाए यह कैसे आता। इस से सिद्ध है कि पृथ्वी बनती भी है और बिगड़ती भी है।

ना०-मैं वेद नहीं मानता, मैं तो प्रत्यक्ष और तदनुकूल अनुमान और तर्क मानता हूं सो तर्क द्वारा पृथ्वी आदि का बनना और बिगड़ना सिद्ध कीजिये।

आ०—पृथ्वी की आयु ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होने से इस का समष्टि रूप से बनना और बिगड़ना देखा नहीं जासकता। इस पृथ्वी को छोड़िये हजारों और लाखों वस्तुएं ऐसी हैं जो न बनती देखी गई हैं और न बिगड़ती। किन्तु हमने उनके परिणाम नहीं देखे क्या इतने मात्र से वे नित्य हो जानी चाहियें। उदाहरण के लिए कोहनूर हीरे को लीजिये। भूगर्भवेत्ता परीक्षा करके बताते हैं कि यह हीरा करोड़ों वर्षों में बना है किन्तु इस को बनते किसी ने भी नहीं देखा और अभी मौजूद है, बिगड़ते भी नहीं देखा, तो क्या कोहनूर कोई नित्य पदार्थ है।

ना०—नहीं, कोहनूर नित्य पदार्थ नहीं है, वह तो पृथ्वी के अंश से ही बना है। मैं तो यह मानता हूं कि पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले पृथ्वी के अंश सब अनित्य हैं पृथ्वी नित्य है। पृथ्वी की अनित्यता में कोई प्रमाण नहीं मिलता—

आ०-भूगर्भवेत्ता पृथ्वी को भी बना बताते हैं और साइंस द्वारा सिद्ध करते हैं उनके लिए आप के पास क्या उत्तर है?

ना० -साइंस शुद्ध अनुमान नहीं है मुमकिन है उसका भ्रम हो मैं निर्भ्रान्त तर्क चाहता हूं।

आ०--अच्छा पृथ्वी के बनने में निर्भ्रान्त हेतु सावयव है, पृथ्वी अवश्य बनी है-सावयव होने से- घड़े की तरह।

ना०--सावयवत्वात् हेतु का हम खण्डन कर चुके हैं। हमने कहा था कि यदि अवयवों के साथ रहने वाला सावयव है तो अवयवी में व्यभिचार आता है और जो अवयवों से बना अर्थ किया जाए तो अन्योन्याश्रय होता है। इसके अतिरिक्त यदि सावयव का अर्थ विकारी होना अथवा प्रवेश वाला होना किया जावे तो साध्यसम हेत्वाभास तथा आकाश में अनैकांतिक हेत्वाभास होगा-अर्थात् जगत् को आप सावयव किसी भी दशा में सिद्ध नहीं कर सकते

आ०- सावयवत्वात् हेतु सर्वथा निर्दोष है। आपको भ्रम हो गया है, आपने अभी कहा है कि यदि यह जगत् अवयवों से बना सिद्ध हो जावे तो हम इसे सावयव कहेंगे सो आप प्रत्यक्ष देखते हैं कि घड़ा दो कपालों से बनता है. दोनों कपाल और छोटे २ कपालों से बनते हैं, छोटे कपाल मिट्टी से बनते हैं-मिट्टी में छोटे २ कण होते हैं ये सब घड़े के अवयव हुए कि नहीं? बस प्रत्यक्ष से सिद्ध हुआ कि घड़ा अवयवों से बना है और यह ही जगत् है।

ना०--हाँ घड़ा इस तरह अवयवों से तो अवश्य बना है। किन्तु उसे जगत् कौन कहता है? इस प्रकार तो क्योंकि देहली भारतवर्ष का अंग है इस लिए देहली भारतवर्ष है, यह सिद्ध हो जायगा।

आ०--मैं यह कब कहता हूं कि घड़ा जो है सो पृथ्वी है, जो पृथ्वी है वही घड़ा है। कहने का अभिप्राय तो यह है कि पृथ्वी और घट में नाम रूप का अन्तर होते हुए भी घट और पृथ्वी में कोई वास्तविक भेद नहीं क्योंकि जो गुण पृथ्वी का है वही घट का है। जब आप भी घट को पृथ्वी का अवयव मानते हैं तो घड़ा अपने आप ही जगत् सिद्ध हो गया। क्योंकि अवयव और अवयवी का सम्बन्ध नित्य होता है। अवयवी से अवयव जुदा नहीं हो सकता। जब घट ही जगत् है और उसे हम अवयवों से बनता बिगड़ता देखते हैं तो उसके अवयवों का भी अनुमान सहज ही हो सकता है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता।

ना०--अच्छा मैं मान लेता हूं कि घड़ा भी जगत् है और वह सावयव भी है किंतु सावयव जगत् से ईश्वर सिद्ध कैसे हो गया। पृथ्वी सावयव है सही, सारा ब्रह्मांड सावयव है सही, किन्तु इतने मात्र से उनका कर्त्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हो जाता है।

आ०--मैं कब कहता हूँ कि इस हेतु से ईश्वर सिद्ध हो गया। मैं कहता हू कि सावयव वस्तु बनी होती है। बस यह जगत् बना

हुआ है। अब आगे प्रश्न होता है कि जो वस्तु बनी होती है उसका बनाने वाला भी अवश्य होता है। सो ईश्वर न सही आपकी समझ में जो भी इसका बनाने वाला हो उसे बताइये।

स्वभाव वाद

वा०-यह संसार स्वभाव से बना है। क्योंकिः—

नित्यसत्वा भवन्त्येके, नित्यासत्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
वन्हिरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद् व्यवस्थितिः॥

अर्थात संसार में बहुत सी चीज़ें नित्य हैं और बहुत सी अनित्य हैं और बहुत सी विचित्र हैं उनका नियामक सिवाय स्वभाव के और कौन है ? अग्नि गर्म, जल ठंडा, वायु अनुष्णाशीत। ये सब इस प्रकार के किसने बना दिये। बस इनके बनाने वाला स्वभाव ही है और इसी को नेचर Nature भी कहते हैं। जब कभी विज्ञानियों के सामने यह प्रश्न आता है कि अग्नि जलाता क्यों है तो इसका उत्तर यही मिलता है कि यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार संसार में जितनी क्रियाएं हो रही हैं वे स्वाभाविक रूप से होती हैं। सूर्य का स्वभाव है कि वह पूर्व से उदय हो और पश्चिम में छिपे। पृथ्वी का स्वभाव है कि वह सूर्य्य के चारों तरफ़ भ्रमण करे। इसी तरह आम से आम, नीम से नीम आदि का पैदा होना भी स्वभाव है। इस प्रकार सृष्टि को स्वरूप से अनादि मानकर इस ब्रह्मांड का नियामक स्वभाव मान लेने से सारे दोष हट जाते हैं। फिर ईश्वर के मानने की आवश्यकता क्या है ?

आ०-प्रथम आप स्वभाव का अर्थ कीजिये।

ना०-एकनियतोभावःस्वभाव इत्युच्यते। अर्थात् एक नियत भावका नाम स्वभाव है अथवा स्वोभावः स्वभावः। अर्थात् वस्तु का धर्म स्वभाव कहलाता है।

आ०-वह धर्म नित्य है अथवा अनित्य।

ना०-नित्य भी है अनित्य भी है।

आ०-नित्य स्वभाव किस का है और अनित्य किसका।

ना०-आकाश का स्वभाव नित्य है इसी तरह सूर्य का स्वभाव नित्य है और समुद्र आदि का अनित्य। घड़े का स्वभाव अनित्य है अर्थात् बनना और बिगड़ना।

आ०-यह आपका भ्रम है एक वस्तु के दो विरोधी स्वभाव नहीं हो सकते। यदि घड़े का बनना बिगड़ना दोनों स्वभाव हैं तो एक काल में दोनों स्वभाव कैसे रह सकते हैं? जिस समय में घड़े का बनना स्वभाव है उस समय में उसका बिगड़ना स्वभाव नहीं रह सकता।

ना०-एक काल में कौन मानता है बनना एक काल का स्वभाव है, बिगड़ना दूसरे काल का।

आ०-जब आप एक नियत भाव को स्वभाव कहते हैं तो वह नियत भाव प्रत्येक काल में रहना चाहिये। अर्थात् जिस समय घड़ा बन रहा है उस समय बिगड़ना भी उसका स्वभाव उसके साथ रहना चाहिये।

ना०-रहे तो क्या हानि है।

आ०-फिर घड़ा बनेगा कैसे। क्योंकि बनने को बिगड़ना रोकेगा और बिगड़ने को बनना इन दो विरुद्ध क्रियाओं के रहते घड़ा बन नहीं सकता।

ना०-नहीं जिस समय घड़ा बन रहा है उस समय बनने की प्रबल क्रिया उसके बिगड़ने को रोक देगी, जैसे अग्नि पर गर्म करते

समय जल का शीतलत्व स्वभाव भी कुछ नहीं कर सकता। वह प्रबल होने से जल के शीतलत्व स्वभाव का रोके रहता है।

आ०—यह ठीक नहीं, गर्म जल में भी जल का शीतलत्व धर्म नष्ट नहीं होता। केवल उस समय उसकी प्रतीति नहीं होती है। वह उस समय अभिभूत हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो गर्म जल अग्नि को भी न बुझा सके। दूसरे उष्णत्व स्वभाव अग्नि का है उसके संसर्ग से जल में वह गुण आता है अतः संसर्गज गुण से चाहे स्वाभाविक गुण का अभिभव हो जावे किन्तु स्वाभाविक गुण का स्वाभाविक गुण से अभिभव नहीं होसकता।

ना०—मैं यह नहीं कहता कि घड़े का नष्ट होना उसमें रहा ही नहीं बनते समय भी वह रहता है किन्तु बनने की प्रबल क्रिया के सामने उसको प्रतीति नहीं होती।

आ०—प्रतीति चाहे न हो किन्तु जब बिगड़ने की क्रिया स्वाभाविक रूप से हो रही है और आप मानते भी हैं तब बताइये कि घड़े के बन चुकने पर घड़ा टूट क्यों नहीं जाता। क्योंकि तब तो बनने की प्रबल क्रिया रही नहीं। इस से सिद्ध हुआ कि घड़े का बनना और बिगड़ना दोनों ही स्वभाव नहीं है। यदि उसका बनना स्वभाव होता तो प्रत्येक समय बनना उस में पाया जाता और यदि बिगड़ना उस का स्वभाव होता तो किसी काल में भी नहीं बन सकता। जैसे जल का स्वभाव शीतल है वह बिना ठण्डा किये भी स्वयं ठण्डा हो जाता है। इसी तरह घड़ा भी बिना किसी क्रिया के टूट जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता इस से सिद्ध हुआ कि घड़े के ये दोनों स्वभाव नहीं हैं। बल्कि कर्त्ता की क्रिया के फल हैं। कुम्हार चाहे घड़े को बनावे चाहे न बनावे, तोड़े या न तोड़े। यह कुम्हार की इच्छा पर है। घड़े का इस से कुछ सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल क्रिया का अधिकरण है।

ना०-आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ।

आ०-मैं इस से यह सिद्ध करना चाहता हूं कि यदि यह जगत् बनता भी है और बिगड़ता भी है तो दोनों इनके स्वभाव नहीं है बल्कि किसी कर्ता की क्रिया के फल हैं ।

ना०-तो क्या आप यह सिद्ध करते हैं कि जल को शीतल और अग्नि को गर्म परमात्मा ने ही बनाया है ।

आ०-नहीं , जलीय और आग्नय परमाणुओं के ये स्वभाव हैं

ना०:—फिर परमात्मा ने क्या बनाया है ।

आ०—जब परमाणु भिन्न २ थे तब उन में स्वयम् एकत्र होने की शक्ति न थी, क्योंकि अचेतन थे । अतः उन को संयुक्त करना ईश्वर का कार्य्य है । जैसे मिट्टी के रहने हुए भी बिना कुम्हार के घड़ा नहीं बनता ।

ना०--आपका यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । देखिये आकाश में बादल स्वयं एकत्रित हो जाते हैं, जल बनता है, जमता है और फिर बरस जाते हैं । ईश्वर कुछ नहीं करता । इसी तरह रेगिस्तान में बालू उड़ती है, टीले बनते हैं, रेत के पहाड़ बन जाते हैं । नदियों का पानी स्वयं चल कर एक जगह जमा होता है जिस से समुद्र बन जाता है । इसी प्रकार संसार के सारे पदार्थ बन जाते हैं बताइये इनमें ईश्वर कौन सी क्रिया कर रहा है ।

आ०--मैं थोड़े समय के लिए माने लेता हूं कि वहां सारा कार्य स्वयं हो रहा है किन्तु क्या आप बता सकते हैं कि रेल, तार, मकान, बर्तन, कपड़े, घड़ियां आदि पदार्थ स्वयं क्यों नहीं बन जाते ?

ना०--स्वयं नहीं बन जाते यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है इसीलिए तो इनका रचयिता मनुष्य माना गया है, और वह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है किंतु जहां हवा से रेत के टीले बनते हैं वहां टीले बनने में वायु के सिवाय और एक ईश्वर की कल्पना करनी सर्वथा व्यर्थ है । इस

प्रकार तो घड़े के बनाने में भी कुम्हार के साथ २ ईश्वर कारण है। सभी बातों में ईश्वर कारण रहेगा तो फिर मनुष्य स्वतन्त्र कैसे माना जायगा, और फिर जब सारी क्रियाओं का कारण ईश्वर है तब उसका फल भी उसे क्यों न भोगना चाहिये।

आ०--आपका कथन ठीक है रेगिस्तान में टीले बनाने की साक्षात् कारण वायु ही है, इसमें मैं भी ईश्वर को साक्षात् कारण नहीं मानता यों ही घुणाक्षर न्याय से सारी क्रिया होती रहती है, उस क्रिया का फल क्या है यह तो विचारिये।

ना०--फल कुछ नहीं, वायु का स्वभाव है चलना, रेत का स्वभाव है उड़ना, सो दोनों स्वाभाविक क्रिया करते हैं। उससे कहीं टीले बनते हैं, कहीं रेत उड़ता है। यदि ईश्वर को भी कारण मानलें तब भी वहां कोई फल नहीं दीखता।

आ०--ईश्वर को अभी छोड़िये-आपने कहा वहाँ फल कुछ नहीं, तो अब प्रश्न है कि यहाँ जो आंधी चलती हैं, रेत उड़ता है इस का भी कुछ फल नहीं होगा, क्योंकि वह तो वायु का स्वभाव है, इसी प्रकार सूर्य का निकलना, समुद्र का बनना, पृथ्वी और नक्षत्रों के घूमने का भी कोई फल नहीं होगा, तब इतना बड़ा ब्रह्माण्ड निष्फल क्यों चल रहा है, इससे फ़ायदा क्या है? यदि आप कहें स्वभाव से ऐसा ही चल रहा है हम इसका क्या उत्तर दें तो इसका उत्तर यह है कि कारण द्रव्य को छोड़कर बनी वस्तुओं का नियमित स्वभाव स्वयं नहीं हो सकता, क्योंकि अचेतन पदार्थ ज्ञानरहित होता है उसे इच्छा नहीं होती। इस लिए अचेतन स्वयं नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकता।

ना०--क्या आप ऐसी कोई युक्ति दे सकते हैं जिससे अचेतन के कर्तृत्वका खण्डन होता हो।

आ०--हां अवश्य दे सकते है। सुनिये चेतन निरपेक्षा परमाणवो

न नियम पूर्वक किञ्चित्कर्त्तुं मर्हन्ति-अचेतनत्वात्, यन्त्रादिवत्।

(१) अर्थात् चेतन के बिना परमाणु नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकते अचेतन होने से जैसे बिना चेतन मनुष्य के यन्त्र नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकते।

(२) चेतन निरपेक्षापरमाणवो नान्यैः-परमाणुभिः स्वयं संयोक्तुमर्हन्तिइच्छारहितत्वात्-द्वयोः घटकपालयोरिव अर्थात् चेतन के बिना एक परमाणु दूसरे परमाणु से स्वयं नहीं मिल सकता इच्छारहित होने से-जैसे घड़े के दो कपाल परस्पर एक हजार वर्ष तक भी नहीं मिल सकते जब तक उन को कोई चेतन न जोड़े।

(३) चेतननिरपेक्षापरमाणवो न नियमपूर्वकं गतिशीला भवितुमर्हन्ति ज्ञानप्रयत्नशून्यत्वात्-खण्डित गिरिखण्डादिवत्। अर्थात् अचेतन परमाणु नियमपूर्वक गतिशील नहीं हो सकते ज्ञान और प्रयत्न रहित होने से-टूटे हुए पर्वत के खण्ड की तरह। जैसे टूटा हुआ पर्वत खण्ड सैंकड़ों वर्षों तक एक स्थान पर पड़ा रहता है और ज्ञान प्रयत्न रहित होने से नियमपूर्वक कहीं नहीं चला जाता ऐसे ही परमाणु भी स्वयं कुछ नहीं कर सकते।

(४) अचेतनाः परमाणवः स्वयं नियत कालदिशःसु क्रिया रहिताः-ज्ञानरहितत्वात् तुरगविहीनयानवत। अर्थात् अचेतन परमाणु स्वयं नियमपूर्वक नियत देश, नियत काल और नियत दिशा में कार्य नहीं कर सकते ज्ञान रहित होने से घोड़े से रहित गाड़ीकी तरह। जैसे केवल गाड़ी किसी नियत स्थान पर नियत समय पर स्वयं नहीं जा सकती जब तक उसके साथ कोई चेतन न हो इसी तरह कोई परमाणु नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकता ज्ञानरहित होने से। इससे सिद्ध है कि ब्रह्माण्ड का नियमपूर्वक कार्य किसी चेतन द्वारा ही हो रहा है ऐसा न हो तो स्वयं कुछ न हो सके।

ना०—आपके सारे अनुमान अनैकान्तिक हेत्वाभास युक्त होने से व्यभिचरित हैं क्योंकि सूर्य और पृथ्वी अचेतन होते हुए नियमपूर्वक भ्रमण करते हैं। मेघ नियत समय पर वर्षा करते हैं और वायु नियमपूर्वक चलता है किन्तु दोनों अचेतन हैं।

आ०—आपका दृष्टान्त ठीक नहीं है। जब अचेतन पृथ्वी नियमपूर्वक सूर्य के चारों तरफ़ स्वयं ही घूमती है जब प्रतिदिन नियमपूर्वक सूर्य ज्ञान और इच्छारहित होने पर भी स्वयं निकलता है तब आपका मकान स्वयं उठकर कहीं क्यों नहीं चला जाता, अग्नि में तपा हुआ लोहे का गोला क्यों नहीं कहीं को चल देता उसमें उस क्रिया का अभाव क्यों है जो सूर्य और पृथ्वी में है।

ना०—उनका स्वभाव ही ऐसा है।

आ०—जब दोनों अचेतन हैं तब दोनों के स्वभाव में अन्तर क्यों हुआ इससे सिद्ध है कि पृथ्वी, सूर्य, वायु, मेघ, जल इन सब पदार्थों में वह चेतन जल में रस की तरह, पृथ्वी में गन्ध और अग्नि में रूप की तरह और वायु में स्पर्श तथा आकाश में शब्द की तरह ओतप्रोत है। क्रियावान्, ज्ञानवान्, प्रयत्नवान्, इच्छावान् वही है। अचेतन पदार्थ तो केवल क्रिया के अधिकरण हैं। देखो उपनिषद् को—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।

ना०—मैं उपनिषद् नहीं मानता—मैं केवल तर्क को प्रमाण मानता हूं आपने जो कहा क्रियावान्, प्रयत्नवान्, इच्छावान् वही है अब देखना यह है कि क्रिया पृथ्वी में है, ईश्वर में तो इसलिए नहीं मानी जा सकती कि आप उसे निष्क्रिय मानते हैं और पृथ्वी में प्रत्यक्ष क्रिया दीखती है इसलिए निःसन्देह पृथ्वी में ही क्रिया माननी पड़ेगी—जिस तरह हमारे शरीर में जितनी क्रियाएं होती हैं उनके अधिकरण हमारे हाथ पैर ही हैं।

आ०—यह भी दृष्टान्त ठीक नहीं है। यद्यपि हमारे शरीर में ही

प्रत्यक्ष रूप से क्रिया देख पड़ती है तो भी वह हाथ पैरों से पैदा हुई कदापि नहीं मानी जा सकती, यदि यह बात ठीक न हो तो मरे हुए मनुष्य में भी क्रिया क्यों नहीं देख पड़ती।

ना०-चेतन जीवात्मा के पृथक् हो जाने से मृत शरीर में क्रिया नहीं देख पड़ती।

आ०-तो इससे सिद्ध हो गया कि शरीर में जो क्रिया थी वह चेतन जीवात्मा की ही थी यद्यपि वह चेतन दीखता नहीं था और यद्यपि वह क्रिया प्रत्यक्ष देह में दीखती थी।

ना०-तो क्या अचेतन में क्रिया होती ही नहीं।

आ०-क्रिया तो अचेतन में ही होती है किन्तु उसका पैदा करने वाला चेतन ही होता है, क्योंकि जिसके बिना जो न हो वह उसका कारण है। चेतन के बिना अचेतन में क्रिया नहीं होती इसीलिए चेतन उस क्रिया का कारण है। इसी तरह अचेतन सूर्य और पृथ्वी में भी यद्यपि साक्षात् क्रिया दीखती है तो भी उस क्रिया का कारण परमात्मा को ही मानना पड़ेगा।

ना०-यदि क्रियावान् मानना ही पड़ेगा तो आपको भी वह एकदेशी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सक्रिय पदार्थ व्यापक नहीं हो सकता और व्यापक में क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि एक देश त्याग पूर्वक अन्यदेश सम्बन्धानुकूल व्यापार का नाम ही क्रिया है। क्या आप परमात्मा में ऐसी क्रिया स्वीकार करते हैं ?

आ०-नहीं ऐसी क्रिया तो एक देशी में ही हो सकती है परमात्मा की क्रिया तो चुम्बक या मेगनेट अथवा ध्रुव के समान है। जैसे चुम्बक की शक्ति से लोहे में क्रिया होती है किन्तु चुम्बक स्वयं उस क्रिया का अधिकरण नहीं बनता, जैसे ध्रुव अचल रहता भी कुतुबनुमा को हरकत देता रहता है इसी तरह परमात्मा की अविकल शक्ति से सर्वत्र क्रिया होती रहती है किन्तु

वह स्वयं क्रिया नहीं करता, यदि क्रिया का लक्षण आपका ही माना जाय तो चुम्बक में वह लक्षण दिखाइये। बिजली के तार नेगेटिव और पोज़ेटिव एक जगह स्थित रह कर आकर्षण भी करते हैं और अपकर्षण भी करते हैं किन्तु वे स्वयं अविचल रहते हैं। क्या वे सक्रिय हो सकते हैं और क्या उनसे अन्य पदार्थों में क्रिया उत्पन्न नहीं होती-इसलिए यह सिद्ध हुआ कि प्राकृतिक क्रिया तो वही है जैसी आपने बताई किन्तु जिसका नाम शक्ति है जिससे क्रिया उत्पन्न होती है वह दो प्रकार की है एक ध्रुव दूसरी अध्रुव। ध्रुव शक्ति चुम्बक में है और अध्रुव रेल के इञ्जिन में है, क्योंकि विभु पदार्थ में एक देश त्याग और अन्यदेश प्राप्ति नहीं होती अतः चुम्बकीय शक्ति ही वहां माननी पड़ेगी-जिससे ईश्वर में कोई दोष नहीं आता।

ना०-अच्छा-वह शक्ति ही क्रिया सही, किन्तु वह नित्य है या अनित्य, स्वाभाविक है या नैमित्तिक? यदि संसार के बनाने की शक्ति स्वाभाविक है तो वह बिगाड़ नहीं सकता, यदि बिगाड़ने की शक्ति स्वाभाविक है तो वह बना नहीं सकता। यदि दोनों शक्तियां स्वाभाविक हैं तो न बना सकता है न बिगाड़ सकता, यदि काल भेद से शक्ति भिन्न २ मानो तो वह स्वाभाविक न रही, इस लिए ईश्वरीय शक्ति के रूप का उपपादन कीजिये।

आ०-बनना और बिगड़ना ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं, वास्तिवक धर्म नहीं हैं। जैसे खेत का खोदना उसका बनना है किन्तु किसी अच्छे मकान को खोदना उसका बिगड़ना है। क्रिया दोनों जगह एकसी हैं, फिर बनना और बिगड़ना प्राकृतिक अतात्विक धर्म हैं-शक्ति का काम क्रिया उत्पन्न करना है वह ईश्वरीय शक्ति स्वाभाविक नित्य है उससे ब्रह्माण्ड को शक्ति मिलती है, उस शक्ति से कोई वस्तु बनती मालूम होती है कोई बिगड़ती, किंतु

इससे शक्ति में कोई भेद नहीं आता-जैसे सूर्य ताप देता है जिससे कोईवस्तु सड़ती है,कोई सूखती है,कोई फल बनता है, कोई बिगड़ता है किंतु सूर्य की ताप शक्ति में भेद नहीं आता। क्या कोई यह कह सकता है कि सूर्य की अमुक तापशक्ति नाशक, अमुक विश्लेषक, अमुक संयोजक है। नहीं ताप के ये धर्म नहीं हैं। हाँ उस शक्तिसे अनेक प्रकारकी क्रियएं उत्पन्न होजाती हैं।

ना०-बनना और बिगड़ना सापेक्ष चाहे हो किन्तु हैं तात्विक क्योंकि सृष्टिका बनना एक समय में होता है और प्रलय दूसरे समयमें। किन्तु बनना भी तात्विक है और बिगड़ना भी, किसी वस्तु की सापेक्षता किसी के तात्विकपने को नष्ट नहीं कर सकती, दूसरे सूर्य का दृष्टान्त भी विषम है वहां सड़ने गलने सूखने में कोई नियम नहीं पाया जाता। कोई फल आज ही पक कर सूख जाता है,। कोई किसी प्रतिबन्ध के कारण बरसों रखा रहता है-किन्तु सूर्यादि नियमपूर्वक चलते हैं यदि इसमें केवल ईश्वर की शक्ति ही नियामक हो तो उलटफेर भी होना चाहिये।

आ०-मेरा यह सिद्धान्त नहीं कि संसार की सब वस्तुएं सापेक्ष होने से अतात्विक होती हैं। मैं तो बनने और बिगड़ने को अतात्विक बताता हूं। दूसरे जो सूर्य का दृष्टान्त विषम बताया वह ठीक नहीं वहां अचेतन सूर्य द्वारा ताप प्राप्त होता है और ब्रह्माण्ड की नियामक चेतन ईश्वर की शक्ति है-इस भेद के कारण फलों के सड़ने गलने में कोई नियम नहीं किन्तु सूर्य के भ्रमण में बराबर नियम पाया जाता है फिर भी शक्ति दोनों जगह एकसी ही है। हां सौर्य शक्ति अनित्य है और ईश्वर की शक्ति स्वाभाविक,एकरस,नित्य है उसमें कभी भेद नहीं पड़ता।

ना०-भेद तो स्पष्ट है जब आप कहते हैं कि यह पृथ्वी ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रह कर नष्ट हो जाती है इस प्रकार या तो

ईश्वर की दो शक्तियें माननी पड़ेंगी या शक्ति अनित्य माननी पड़ेगी क्योंकि एक काल में वह बनाता है और एक में बिगाड़ता है

आ०-आपने काल भेद से जो शक्ति के भेद का उपपादन किया वह सर्वथा अयुक्त है। ईश्वर के लिए भूत भविष्यत् नहीं होते, सर्वदा वर्त्तमान ही रहता है उसका प्रत्येक कार्य वर्त्तमान में ही होता है, क्योंकि काल वस्तुतः सूर्य के भ्रमण का फलमात्र है यदि सूर्य न हो तो भूत भविष्यत् दोनों न हों केवल वर्त्तमान ही रहे अब चूँकि परमात्मा एक रस है अतः उसका ज्ञान नित्य उसकी क्रिया नित्य है अतः उसका हर एक काम अनवच्छिन्न रूप से होता रहता है। हम अल्पज्ञों की दृष्टि में भूत भविष्यत् का भेद पड़ता है। अतः कालकृत भेद से शक्ति भेद नहीं माना जा सकता, रहा यह प्रश्न कि सृष्टि कुछ अन्तर से बनती और बिगड़ती है फिर शक्ति अनित्य क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि सृष्टि तो प्रति समय बनती और बिगड़ती रहती है सर्ग और प्रलय प्रति समय होते रहते हैं उसके लिए भिन्न समय मानना ठीक नहीं।

ना०-क्या इस समय भी सर्ग और प्रलय हो रहा है?

आ०-हां हो रहा है, वृक्ष, पर्वत, समुद्र वगैरह का व्यष्टिरूप से सर्ग और प्रलय प्रति समय होता रहता है।

ना०-फिर ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष के अनन्तर सारे ब्रह्माण्ड का प्रलय क्यों माना जाता है क्यों नहीं यही क्रम माना जाता।

आ०-यह क्रम इसलिए नहीं माना जाता कि जो वस्तु समष्टिरूप से बनी है उसका समष्टिरूप से नाश होना अनिवार्य है, जैसे किसी तालाब में अनेक तरंगें पैदा होती हैं और नष्ट होती रहती हैं तो भी एक दिन वह सारा तालाब भी सूख जाता है इसी प्रकार व्यष्टि प्रलय होते हुए भी एक दिन समष्टि प्रलय भी अवश्य होती है जिसकी अवधि ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष है।

ना०-आपने कहा वह क्रियावान् है किन्तु उपनिषदों में निष्क्रिय भी कहा हुआ है और क्रियवान् भी इस दशा में दो विरोधी धर्मों के रहते ईश्वर को क्या माना जाय।

आ०-उसमें दोनों धर्म हैं केवल आपकी समझ का फेर है, देखिये निष्क्रिय तो वह इसलिए है कि उसमें उत्क्षेपण, अपक्षेपण आकुञ्चन, प्रसारण, गमन, भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, पतन आदि क्रियाओं का अभाव है, और क्रियावान् इसलिए है कि वह इस महान् ब्रह्माण्ड को अपनी नित्य शक्ति से चला रहा है, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च का अर्थ यही है कि वह स्वाभाविक ज्ञानवान् है हमारी तरह उसका ज्ञान घटता बढ़ता नहीं, वह स्वाभाविक बलवान् है, उसका बल घटता बढ़ता नहीं और स्वाभाविक क्रिया शील है-अर्थात् उसकी दी हुई शक्ति सदा एक रस रहती है उसमें अणुमात्रभी भेद नहीं पड़ता

ना०-भेद क्यों नही पड़ता जब प्रलय में उसको जगज्जनन शक्ति बन्द हो जाती है तो क्रिया बन्द हुई कि नहीं।

आ०--नहीं उस समय वह शक्ति बराबर काम करती रहती है।

ना०--तब फिर प्रलय ही क्या हुई, फिर सर्ग क्यों नहीं होता।

आ०--ईश्वरीय शक्ति तो उस समय भी वैसी ही रहती है जैसी अब है किन्तु प्रलय में उसके द्वारा परमाणुओं का विश्लेषण और धारण होता है हमारी दृष्टि में वह प्रलय है किन्तु वस्तुतः वह भी सर्ग है, जैसे प्रातःकाल से सायङ्काल तक एक मनुष्य काम करके रात्रि को विश्राम लेने के लिए सोता है क्या उस समय उसके शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है, नहीं उस समय शरीर की वह शक्ति जो दिन में क्रियाओं में नष्ट होती है शरीर का धारण पोषण करती है, यही प्रलय की दशा है, ऊपर कहा गया है कि प्रलय भी सर्ग है इस पर आपको आश्चर्य होगा किन्तु

आप उदाहरण के लिए घड़ी लीजिये, घड़ीसाज़ घड़ी बनाने के लिए पहिले उसके पुर्ज़े २ अलग करता है फिर उनको जोड़ता है, यदि पुर्ज़ों के पृथक् करने की दशा में कोई उससे पूछे कि क्या करते हो तो वह यही उत्तर देता है कि घड़ी बनाता हूं, यद्यपि वह उस समय उसे तोड़ रहा है किन्तु वस्तुनः देखा जाय तो इस तोड़ने का नाम ही बनाना है, वह एक ही प्रकार की क्रिया कर रहा है। जिसका परिणाम बनना ही होगा, जैसे एक यन्त्र बार २ टूट कर फिर जुड़ता है और दोनों क्रियाओं से एक वस्तु को बनता है इसी प्रकार से संयोजग और वियोगज क्रियाओं के परिणाम का नाम ही बनना है नहीं तो बनना कोई वस्तु नहीं है। क्या कोई भी किसी पड़े हुए पत्थर को कह सकता है कि वह बन रहा है या बिगड़ रहा है हां यदि पत्थर को किसी मकान के बनाने के लिए तोड़ा जाता है तो उस टूटने की क्रिया को ही बनना और बिगड़ना कहते है अर्थात् पत्थर का मालिक कहता है कि मेरे पत्थर को क्यों तोड़ते हो और मकान का मालिक कहता है कि मकान के लिए पत्थर बनाया जा रहा है। इसी तरह प्रलय होती है। तात्पर्य यह है कि सर्ग का अर्थ है पृथक् होकर मिलना, अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर की शक्ति सर्ग और विसर्ग में भिन्न नहीं होती बल्कि एक रस ही रहती है।

यहांतक हमने परब्रह्म में क्रिया, क्रिया का अभाव, सर्ग, विसर्गादि का वर्णन किया अब आगे जो नास्तिकों के दूषण हैं उनका निराकरण करते हैं।

सशरीर कर्तृत्ववाद

ना०--अभ्युपगम सिद्धान्त से मैं आपका कथन मान भी लूं तब भी यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जायगा तो और दोषों के

अतिरिक्त उसमें शरीर का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्त्ता के साथ शरीर की व्याप्ति है ।

यद्यत् कार्यं तत्तत्शरीरसत्कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत् ॥

अर्थात् जितने कार्य हैं वे सब शरीरी कर्त्ता से ही होते हैं, कार्य होने से जैसे घड़ा कुम्हार घड़े को शरीर से ही बनाता है, बिना शरीर के नहीं। इसी प्रकार यदि ईश्वर को भी कर्त्ता माना जाय तो उसके भी हाथ पैर होने ही चाहियें।

आ०–आपने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता तो माना किन्तु दोष उसमें शरीर का रहगया, अब शरीर मानने से आपके कथन का निम्नलिखित अभिप्राय प्रकट होता है अर्थात्

(१) यदि वह कर्त्ता है तो उसका शरीर अवश्य होना चाहिये। वा

(२) यदि वह शरीरी नहीं है तो कर्त्ता भी नहीं है। वा

(३) यदि पृथ्वी आदि पदार्थ बने हैं तो शरीर कर्त्ता ने ही बनाए हैं। वा

(४) यदि ये शरीरी कर्त्ता ने नहीं बनाए तो ये कार्य भी नहीं हैं

अब इन विकल्पों में से प्रथम विकल्प की बाबत आप से यह पूछना है कि आप का शरीर पद से क्या तात्पर्य है।

ना०–हाथ पैर आदि अवयवों और इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही शरीर है अथवा आपही का लक्षण "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" रहने दीजिये।

आ०–आपका अभिप्राय यह है कि बिना इन्द्रिय और हस्त पादादि के कोई कार्य पदार्थ नहीं बन सकता।

ना०–जी हां !

आ०–अच्छा तो प्रथम आप यह बतावें कि आपके हाथ पैर किन हाथ पैरों से बने हैं।

ना०--हाथ पैर तो उपलक्षण मात्र हैं व्याप्ति तो शरीर की है अर्थात् कर्त्ता शरीरी होना चाहिये।

आ०--अच्छा यही सही। शरीर के साथ ज्ञान की भी व्याप्ति है या नहीं अर्थात् कर्त्ता शरीरी भी हो और ज्ञानवान् भी हो।

ना०--अवश्य है।

आ०--तब आप बताइये आपके हाथ पैरों को किस ज्ञानवान् कर्त्ता ने बनाया है।

ना०--माता ने।

आ०--क्या आपकी माता को इसका ज्ञान है कि आपकी आंखें कैसे बनी हैं।

ना०--ज्ञान चाहे न हो किन्तु बिना शरीर के तो आंखें नहीं बनीं।

आ०--बिना शरीर के तो नहीं बनीं किन्तु बनाईं किसने प्रश्न तो यह है। माता को तो कह नहीं सकते क्योंकि उसे ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के वह बना नहीं सकती, जब माता ने नहीं बनाईं तो जिसने बनाईं उसका नाम आप लें--यदि आप कहें प्रकृतिने बनाईं तो वह जड़ होने और ज्ञान रहित होने से बना नहीं सकती-यदि आप कहें माता के गर्भ में स्थित आत्माने बनाईं तो वह शरीरी नहीं है अतः बना नहीं सकता अतः आप बतावें गर्भस्थ बालक की आंखें किसने बनाईं।

ना०--तो क्या माता बालक के बनाने का कारण नहीं है?

आ०- है, किन्तु गर्भ में पोषण ही करने का वह साधन है, अन्य कोई वस्तु वह नहीं बनाती, चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति को लेकर परमात्मा अपनी शक्ति द्वारा उसे बनाता है जो सर्वथा शरीर रहित है।

ना०--मेरा तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा बिना शरीर के कुछ नहीं कर सकता ऐसे परमात्मा भी बिना शरीर के कुछ नहीं बना

सकता। क्या आप बता सकते हैं कि अमुक आत्माने बिना शरीर की सहायता के अमुक वस्तु बनाई?

आ०-आत्मा बिना शरीर के अपने शरीर को बनाता है कि नहीं?

ना०-उसे तो माता का शरीर बनाता है।

आ०-तो क्या बिना आत्मा के भी माता शरीर बना सकती है?

ना०-तो क्या बिना माता के शरोर के आत्मा केवल अपनी शक्ति से शरीर बना सकता है।

आ०-हां, बना सकता है, यद्यपि बनाने वाला ईश्वर ही है किन्तु वह चेतन आत्मा के साथ प्राकृतिक सामग्री से बिना माता के शरीर के भी बना सकता है, देखो जरायुज योनियों में तो बच्चा गर्भ में माता के शरीर में बनता भी है किन्तु अण्डजों में तो बाहर आकर बिना किसी अवयव के लगाए ईश्वर की सामर्थ्य से उसमें बच्चा बन जाता है। किन्तु आगे देखो स्वेदजों में तो न माता का गर्भाशय न माता का शरीर कुछ भी न होने पर केवल परमात्मा की अनन्त सामर्थ्य से अनेक जीवों की अमैथुनी सृष्टि होती है जैसी कि सृष्टि के आदि में होती है। वहाँ तो और किसी का संसर्ग है ही नहीं।

ना०--हाँ यह तो ठीक है किन्तु वहां भी पञ्चभूतों के समुदाय से ही सृष्टि होती है।

आ०-तो यह किसने कहा है कि ईश्वर अभाव से भाव करता है वह भी परमाणुओं से ही सृष्टि बनाता है।

मुसल्मान-हमारे सिद्धान्त में अभाव से ही खुदा इस दुनिया को बनाता है जैसे दियासलाई में अभाव से अग्नि उत्पन्न होजाती है।

आ०-यह दृष्टान्त ठीक नहीं है-दियासलाई में सूक्ष्म रूप से अग्नि रहती है, यदि ऐसा न मानो तो बताओ इस होल्डर के रगड़ने से अग्नि क्यों नहीं निकलती, क्योंकि अभाव अग्नि का दोनों

अवश्य विद्यमान है ।

मुसल्मान-फिर वह दीखती क्यों नहीं ।

आ०-सूक्ष्म होने से, जैसे बट के बीज में बट के उत्पन्न करने की सूक्ष्म शक्ति रहती है ऐसे ही दियासलाई में भी रहती है हां वह दीखती नहीं है ।

ना०-तो क्या शरीरी कर्त्ता की व्याप्ति कर्तृत्व के साथ नहीं है ?

आ०-यह सर्वत्र नियम नहीं है, देखो लाखों वृक्ष प्रतिदिन बनते हैं वहां कौन शरीरी कर्त्ता है ।

ना०-इनको पञ्चभूत बनाते हैं ।

आ०-तो क्या पञ्चभूत शरीरी हैं ।

ना०-नहीं-मैं कहता हूं इनमें भी जीवात्मा है जो पञ्चभूतों के द्वारा अङ्कुर बनाता है ।

आ०-द्वारा बनाता है तो परमात्मा भी परमाणुओं द्वारा सृष्टि बनाता है किन्तु वृक्ष स्थित जीवात्मा कुम्हार के तुल्य तो शरीरी बनकर वृक्ष नहीं बनाता ।

ना०-यदि मैं वृक्ष में आत्मा मानकर यह मानलूं कि पञ्चभूत ही वृक्ष बनाते हैं तो क्या उत्तर है ?

आ०-तो फिर पञ्चभूत शरीरी होने चाहियें क्योंकि आप कह चुके हैं प्रत्येक कार्य शरीरी कर्त्ता से ही बनता है ।

ना०-अच्छा स्वभाव से ही वृक्ष बनता है ।

आ०-तो अब स्वभाव शरीरी हुआ इस लिए आपका कथन सर्वथा युक्ति शून्य है कि कर्त्ता शरीरी अवश्य होना चाहिये ।

ना०-अच्छा शरीर की व्याप्ति न भी हो तब भी कर्त्ता के साथ ज्ञान की व्याप्ति तो अवश्य है ? यदि यह ब्रह्माण्ड किसी सर्वज्ञकर्त्ता से बना है तो फिर उसने यह बेडौल ऊंची नीची पृथ्वी, सुनसान पर्वत, भयानक जंगल, बेडौल समुद्र क्यों बनाए । कोई

मनुष्य अंधा, कोई काणा, कोई लंगड़ा, कोई कोढ़ी क्यों बनाया, सिर बनाया तो उसके पीछे दो आंखें और क्यों न बनाईं, बड़े वृक्षों पर छोटे २ फल और छोटों पर बड़े २ क्यों बनाए, बेरी में कांटे और आम बिना कांटे के क्यों बनाए, गन्ने पर फल क्यों न लगादिये इत्यादि लाखों प्रश्न हो सकते हैं जिनसे पता लग सकता है कि यह संसार इसी प्रकार ऊलजलूल चल रहा है। इसका निर्माता कोई ज्ञानवान् नहीं है।

आ०–जिन बातों से यह ब्रह्माण्ड किसी सर्वज्ञद्वारा बना सिद्ध होता है उनसे आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इसका कर्त्ता कोई नहीं है किन्तु नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति, यह ठूँठ का दोष नहीं है जो उसे अन्धा नहीं देखता, यदि आप सर्वज्ञ होते तो आप उस सर्वज्ञ की कृति को समझ सकते, मैं आप से पूछता हूं कि आपने इन बातों से यह तो अनुमान किया कि इस ब्रह्माण्ड का कोई नियामक नहीं है किन्तु नियमित ब्रह्माण्ड के नियमपूर्वक भ्रमण को देखकर आपको यह विचार क्यों उत्पन्न नहीं हुआ कि यह नियम बिना चेतन सर्वज्ञ के किसी जड़के द्वारा नहीं बन सकता ? आप ज़रा सूर्य सिद्धान्तको देखिये

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥

अर्थात् परम ब्रह्म की धारणात्मक महाशक्ति से जकड़ा हुआ यह भूगोल आकाश प्रदेश के बीच में निराधार ठहरा हुआ है।

ना०–यदि यह पृथ्वी निराधार टिकी हुई है तो गिरती क्यों नहीं ?

आ०–हां, इस का भी उत्तर देखिये श्रीमान् भास्कराचार्य क्या उत्तर देते हैं।

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क पतत्त्वियं खे ॥

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है इसी से आकाश में रहने वाला भारी पदार्थ अपनी ओर खिंच जाता है, अर्थात् वह वस्तु नीचे गिरती सी मालूम देती है किन्तु पृथ्वी के तो चारों ओर केवल आकाश ही विद्यमान है, यह बताओ किधर को गिरे। यदि आप कहें यह हमारे नीचे को गिरे तो इसी तरह नीचे के लोग कहेंगे हमारे नीचे को गिरे क्योंकि पृथ्वी तो सारी दिशाओं में रहने वालों के नीचे ही है अतः वह कहीं को भी नहीं गिर सकती। नास्तिको ! क्या इस अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, नियमित कार्य को होता हुआ देखकर भी तुम को यह ध्यान नहीं आता कि इसका कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नियन्ता अवश्य होना चाहिये जिसके बल से यह विशाल ब्रह्माण्ड अविच्छिन्न गति से चल रहा है।

ना०—ब्रह्माण्ड विशाल तो है किन्तु इतने मात्र से एक विशाल ईश्वर की कल्पना कैसे हो सकती है ?

आ०—ब्रह्माण्ड की विशालता मात्र से तुम ईश्वर का अनुमान मत करो किन्तु इसके नियम पूर्वक चलने पर ध्यान दो, और इस के भ्रमण पर विचार करो—देखो पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य ३ लाख चौवन हज़ार नौसौ छत्तीस गुना बड़ा है। और सूर्य से पृथ्वी का अन्तर ९ करोड़ २७ लाख मील है, अर्थात् सूर्य के सामने हमारी यह पृथ्वी इतनी छोटी है जैसे हमारे शरीर में १ रोम। फिर कितने ही अचल तारे बहुत बड़े २ हैं यहाँतक कि सूर्य से भी बड़े प्रचण्ड, महाकाय एवं प्रकाश वाले हैं और फिर असंख्य हैं। अब गति पर ध्यान दो इस भीमकाय सूर्य का प्रकाश हम तक ७॥ मिनिट में ही इतनी दूरी पर आ जाता है किन्तु इन तारों के प्रकाश आने में सत्तरह सौ वर्ष लगजाते हैं। इससे अनुमान कीजिये कि वे कितनी दूरी पर और कितने विशाल होंगे। अब देखो पृथ्वी का व्यास ७९२६ मील है और सूर्य का ८,८७,८५० और चंद्रमा

का २१६०, मंगल का ४३, १६०, शुक्र का ७१२४, शनि का ७२, ४४८ मील है. अब पृथ्वी तल के वर्ग मील १६,७३,३६,५६५ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस पृथ्वी की तोल ५, ८५, २०, ००, ००, ००, ००, ००, ००, ००, ००, ० टन सिद्ध की है। १ टन २७ मन का होता है। और फिर इस पृथ्वी से बृहस्पति १४३६ गुना अधिक है और इससे भी बढ़कर सूर्य का तोल तीन लाख गुना अधिक है. और उसका प्रकाश आठ लाख पूर्णचन्द्रमाके बराबर है। अब विचार करो कि इतनी बड़ी, इतनी भारी, इतनी मोटी, जड़ पृथ्वी अत्यन्त तीव्र वेगसे सूर्य के चारों ओर आकाश में घूमती रहती है और कभी अन्तर नहीं पड़ता, तथा हमको यह पता भी नहीं चलता कि पृथ्वी घूम रही है, अब जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड चक्र को अनायास घुमा रहा है, न कोई ग्रह किसी से टक्कर खाता है न कोई इधर उधर गिरता है उसके लिए यह कहना कि उसने ज्ञान पूर्वक सृष्टि नहीं बनाई कितनी अज्ञता है।

ना०-यह ब्रह्माण्ड नियमपूर्वक भ्रमण करता है यह तो ठीक है किन्तु जो बात अज्ञान मूलक है वह तो कही ही जायगी। क्या आप बता सकते हैं कि ऊपर की बातें अज्ञान मूलक नहीं हैं?

आ०-नहीं यह आपकी बुद्धि का दोष है वे सब बातें यथार्थ हैं। देखिये यदि मनुष्य के ४ आंखें होतीं तो आप पुनः प्रश्न करते ६ क्यों नहीं बनाईं, यदि बगल में २ और होतीं तो आप कहते ८ होनी चाहियें, फिर आप कहते पैरों में क्यों नहीं बनाईं, भला हम आप से पूछते हैं दो में दोष क्या है, पीछे को देखने के लिए तो मनुष्य गर्दन और पैर घुमाकर मुड़ सकता है किन्तु विचार कीजिये यदि ४ आँखें होतीं तो और इन्द्रियाँ भी दुगुनी होतीं फिर हाथ पैर भी ४-४ होते, तब कभी २ ऐसा होता कि किसी सुन्दर दृश्य के देखने के लिए कोई आंख इधर को खींचती कोई

उधर को इस प्रकार कितनी अव्यवस्था होती। यदि एक मनुष्य पूर्व को चलता तो पश्चिम के दो पैर लटकते चलते. यदि आप कहें नहीं,! आँखें ही चार होती तो पैरों के दो रहने ४ होना व्यर्थ था क्योंकि आंखों के बता देने पर भी कि अमुक शत्रु आ रहा है पैरों को घूमना पड़ता, न घूमने पर शत्रु आँखें ही फोड़ डालता, मल्लयुद्ध में सिर के बल गिरनेपर यदि कोई कड़ी वस्तु नीचे आ जाती तो आंखें फूट जातीं, हाथ पिछली आंखों को साथ न कर सकते। इस प्रकार एक ही अव्यवस्था से अनन्त दूषण शरीर की रचना में आ जाते–कोई २ कहते हैं कि सोने में गन्ध क्यों नहीं बनाई, हम कहते हैं सोने में भी सूक्ष्म गन्ध है और उतनी ही गन्ध है जितना उसमें पृथ्वी का भाग है तेजोऽश अधिक होने से प्रतीति नहीं होती, सोना ही क्या, चांदी, तांबा पीतल, हीरे. जवाहरात वगैरह किसी में भी प्रतीत नहीं होती किंतु जब गन्ध पृथ्वी का गुण है तब यह कौन कह सकता है कि इनमें गन्ध नहीं है। इसी प्रकार पृथ्वी को बे डौल बताना, जंगल और पहाड़ों को व्यर्थ बताना व्यर्थ है क्योंकि इन पर्वतों के कारण ही यहाँ वर्षा होती है, नदियें निकलती हैं, अनेक औषधियां उत्पन्न होती हैं, पृथ्वी के ऊंची नीची होने से ही नदियां १ सीमा में चलती हैं, जाड़े और गर्मी का पृथक् २ असर पड़ता है - इस प्रकार विचारने से उस विश्वकर्मा के कौशल का ही ज्ञान होता है न कि इसका कि इसका रचयिता कोई नहीं है। नास्तिकों का एक यह भी आक्षेप है कि जब ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न है तो उसने सब मनुष्यों को उत्तम ही क्यों नहीं बनाया लंगड़ा, लूला, कोढ़ी दरिद्री क्यों बनाया, यह आक्षेप मुसल्मानों पर तो हो सकता है जो मानते हैं कि खुदा ने बिना किसी हेतु के सारे विश्व की रचना की है, नप्रब्द तिथी, आत्माएं थीं न कर्म

थे। कुछ न था और सब कुछ हो गया, किन्तु जब कर्मानुसार सृष्टि की रचना मानी जाती है तब यह दोष नहीं रहता, परमात्मा ने लंगड़े लूले स्वतः नहीं बनाए उनके कर्मानुसार ही बनाए हैं जैसे जो कर्म करता है उसके लिए वैसा ही शरीर, वैसा ही भोग, वैसाही स्थान, सब कुछ उन कर्मों के तुल्य ही मिलता है, जिस तरह गवर्नमेंट अनेक प्रकार के क़ैद खाने क़ैदियों के लिए बनाती है ऐसी ही व्यवस्था ईश्वर की है। इसलिए उसकी रचना का एक परमाणु भी व्यर्थ नहीं है, उसको समझने का प्रयत्न करो तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यहां तक संक्षेप से इस विश्व का रचयिता कोई अवश्य होना चाहिये इसका वर्णन किया गया-अब आगे जीवों के कर्मों का फल दाता कोई अवश्य होना चाहिये इसका वर्णन करेंगे।

जीवों के कर्मों के फल देने वाला कोई सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिये।

यह दूसरा हेतु है परमात्मा की सिद्धि में, इस पर भी नास्तिक विद्वान् यह शंका करते हैं कि कर्मों के फल तो स्वयं कर्म दे सकते हैं, उनके लिए किसी सर्वज्ञ की आवश्यकता नहीं है-श्रीयुत मुनि लब्धि विजयजी अपने दयानन्द कुतर्क तिमिर तरणि नामक ग्रन्थ के १२ पृष्ठ पर लिखते हैं कि " यदि कहो कि कर्म जड़ हैं तो यथा अफ़ीम और संख्या आदि भी जड़ पदार्थों के खाने से प्राणनाश और ब्राह्मी आदि बूटियों के खाने से बुद्धि बढ़ती है वैसे ही कर्म जड़ हैं तथापि उनको शुभाशुभ फल देने की सामर्थ्य है। बालचंद्र जी की लिखी जगत्कर्तृत्व मीमांसा तथा अन्यान्य विद्वानों की लिखी पुस्तकों का भी यही सार है कि कर्म स्वतः ही फल देने वाले हैं उनके लिए ईश्वर की आवश्यकता कुछ नहीं ? अब इस विषय पर विचार करना चाहिये।

आ०-यह मानना कि कर्म स्वतः फल दे सकते हैं ठीक नहीं क्योंकि कर्म जड़ हैं उनको ज्ञान नहीं है कि अमुक कर्म का फल अमुक देना चाहिये।

ना०-जड़ अवश्य हैं किन्तु हमने ऊपर कहा है कि जड़ वस्तु भी फल दे सकती हैं जैसे अफ़ीम नशा करती है और जितनी खाओ उतना ही करती है यद्यपि अफ़ीम को यह ज्ञान नहीं है कि इतना करना चाहिये फिर भी ठीक देती है।

आ०-आपका यह उदाहरण सर्वथा व्यभिचरित है, और जिन २ ग्रन्थकारोंने दिया है उन्होंने बिना सोचे समझे दिया है मैं आपसे पूछता हूं कि एक मनुष्य जितनी बार चोरी करता है उसके कर्म उतनी ही बार उसको आपके सिद्धान्तानुसार दंड देंगे या नहीं?

ना०-हां देंगे।

आ०-इसी प्रकार जितनी बार मनुष्य अफ़ीम खावे उसे नशा अवश्य होना चाहिये।

ना०-हां होना चाहिये, और होता है।

आ०-आप बताइये कि एक बच्चे को एक माशा अफ़ीम देने से उसकी मृत्यु हो जाती है या नहीं?

ना०-हां हो जाती है।

आ०-किन्तु १२० वर्ष के अफ़ीमची का १ माशे से मरना तो दूर रहा नशा भी नहीं होता इसका क्या कारण है? जिस प्रकार चोरों का १ गिरोह चोरी करता है उस में १०० वर्ष से लेकर ६० वर्ष के बूढ़े तक सम्मिलित हैं, सब ने मिल कर एक ही स्थान पर माल लूटा तो सब बराबर चोर हुए, इसी प्रकार एक वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक के मनुष्य को अफ़ीम खिलाने का भी एक सा फल होना चाहिये किन्तु ऐसी बात नहीं है।

ना०-यह तो अभ्यास का कारण है जो उसे नशा कम होता है।

आ०-तो क्या जो मनुष्य बराबर चोरी करते २ अभ्यासी हो जावेगा उसे चोरी का दण्ड भी कम मिलेगा।

ना०-नहीं।

आ०-क्यों?

ना०--चोरी रूप कर्म तो उसने एक सा ही किया है, उसमें भेद नहीं है

आ०--फिर अफ़ीम खाने रूप कर्म भी अफ़ीमची ने एक सा ही किया है उसे उतना ही नशा क्यों न हो ?

ना०--नशा तो उतना ही होता है किन्तु अफ़ीमची को अभ्यास के कारण प्रतीति नहीं होती।

आ०--उसको उतना ही नशा हुआ है इसमें क्या प्रमाण है ? और हुआ भी सही नशा तो फल स्वरूप है, जब उसे उस कर्म का उतना फल ही नहीं मिला फिर कैसे मानलें कि उतना ही नशा हुआ।

ना०--तो क्या अफ़ीम नशा नहीं करती यह आप सिद्ध करते हैं।

आ०--नहीं अफ़ीम में नशा करने का तो स्वाभाविक गुण अवश्य है किन्तु मनुष्य स्वतः उसके फल को कम या अधिक या विनष्ट भी कर सकता है इसीलिए फल प्राप्त करना चेतन के अधीन हो गया स्वयं जड़ में शक्ति न रही।

ना०--इसको स्पष्ट कर के समझाइये।

आ०- देखिये १० मनुष्यों ने एक साथ प्रथम २ भूल में अफ़ीम खाई, ५ मनुष्यों के मित्रों को पता चला कि इन्होंने अफ़ीम खा ली है अतः डाक्टर को बुला कर उसकी दवा कराई, कै होजाने से पांच मनुष्य बच गये-दो मनुष्यों का पता ही न चला-दोनों मर गये, एक मनुष्य ने अफ़ीम के साथ घी बहुत खाया जिससे उसको नशा बहुत कम हुआ, एक मनुष्य ने घी कम खाया इस लिए वह मरा तो नहीं किन्तु बावला होगया। अब विचारिये एक काल, एक देश, एक सी क्रिया, एक ही वस्तु को खाकर भिन्न२ फलों का होना क्या सिद्ध करता है कि अफ़ीम के नशे रूप फल को मनुष्य चाहे कम करदे, ज़ियादा करे या अभ्यास के बल से नशा होने ही न दें-तो फल मनुष्य के हाथ में रहा या नहीं, तब आपका यह कहना कि जड़ पदार्थ शुभ और अशुभ फल स्वयं दे सकते है कहां संगत हुआ-अफ़ीम चाहे जितनी चेष्टा करे

हम अपने विज्ञान बल के प्रभाव तथा औषधों के प्रभाव से नशे को रोक सकते हैं किन्तु कर्मों के अटल नियम कभी नहीं रुकते यह आप भी मानते हैं जैसा जिसने कर्म किया है उसका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा, उसमें आपका ज्ञान, औषध उपचार काम नहीं दे सकता।

ना०-आपका दृष्टान्त भी विषम है देखो १० मनुष्य चोरी करते हैं इनमें से ४ छूट जाते हैं,२ को १ वर्ष की, १ को काला पानी और २ को ७-७ वर्ष की जेल हो जाती है। जैसे एक ही देश, एक ही काल और१ही क्रिया करते भी सबको एक सा फल नहीं मिलता ऐसे ही एकसी हीं अफ़ीम खाने पर भी फलमें भेद हो जाता है।

आ०-इससे ही तो सिद्ध होता है कि फल के दाता कर्म नहीं बल्कि कोई और है, इसका उत्तर तो आप ही दीजिये कि जब एकसे ही कर्म किये हैं तब कर्मोंने क्यों नहीं सबको समान फल दिया?

ना०-मैंही उत्तर क्यों दूं आप भी तो दीजिये कि जब परमात्मा फल देने वाला है तो उसने सबको समान फल क्यों नहीं देदिया।

आ०-वहां फल का दाता ईश्वर नहीं बल्कि अल्पज्ञ अल्प शक्ति जज है जो यथार्थ जान नहीं सकता इसलिए पग २ पर भूल करता है।

ना०-मैं भी तो यही कहता हुं कि वहां फल देने वाले कर्म नहीं हैं बल्कि जज है जो अल्पज्ञ है।

आ०-अरे नास्तिको! जब अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, एकदेशी जज इतनी भूल करता है तो कर्म तो बिचारे क्या कर सकते हैं जो सर्वथा जड़ हैं। क्या तुमको इतना भी ज्ञान नहीं है कि जजको तो जो चेतन है, ज्ञानवान् है, मुर्ख बताते हो और जो कर्म सर्वथा जड़ हैं उनको इस विश्वका नियामक माने बैठे हो।

ना०-अच्छा थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि ईश्वर ही सब के कर्मों का फल दाता है, तो प्रथम दूषण यह है कि एक सेठ के यहां एक चोर ने चोरी की, परमात्मा को उस सेठ को

फल देना है अतः चोर को फल देने के लिए भेज दिया, अब आप बताइये चोर का इसमें अपराध क्या है ? चोरी तो ईश्वर ने कराई है न कि चोरने स्वयं की है। इसदशा में चोरको दंड के बदले कुछ पुरस्कार मिलना चाहिये क्योंकि उसने मेहनत करके ईश्वरका ही काम किया है। इसी तरह पशु बध करने वाले कसाइयों को भी कुछ इनाम मिलना चाहिये क्योंकि वे ईश्वर का ही काम करते हैं, उनका दोष कुछ नहीं है।

आ०--इसमें क्या प्रमाण है कि चोर परमात्मा का काम कर रहा है।

ना०--यही कि वह सेठ को फल देने जा रहा है, जिस को ईश्वर देना चाहता है।

आ० -अच्छा तो वह फिर चोरी करने में डरता क्यों है, उसकी आत्मा में भय क्यों होता है ?

ना०--अज्ञानके कारण,वह जानता नहीं कि मैं ईश्वरका काम कररहा हूं।

आ०-जब उसमें इस बात का ज्ञान नहीं कि मुझे ईश्वर प्रेरणा कर रहा है तो यह तो सिद्ध हो गया कि परमात्मा ने उसे प्रेरणा नहीं की वह स्वयं अपनी इच्छा से कर रहा है, अब यह सिद्ध करना है कि वह परमात्मा के कार्य का साधक है या नहीं। हम कहते हैं कि वह अपने कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह चोरी स्वतन्त्रता से करता है, और उसके कर्म से किसी को लाभ और किसी को हानि पहुंच जाती है। यदि सेठ को उस समय दुःख प्राप्त करना है तो वह दुःख भोगता है अन्यथा घरके लोग जाग पड़ते हैं चोर पकड़े जाते हैं या भाग जाते हैं। यदि यह आवश्यक होता कि चोर को परमात्मा ही भेजता तो कभी कोई चोर न पकड़ा जाता, कभी कोई न जाग पाता, परमेश्वरीय कार्य अवश्य पूरा होकर रहता, और आप चोरी ही को क्यों लेते हैं ऐसा परस्पर का सम्बन्ध और कर्म फल की शृङ्खला तो सर्वत्र ही पाई जाती है। माता, पिता के कर्म से सन्तान उत्पन्न

होती है, फिर उसको पालते हैं, फिर उस सन्तान से अनेक प्रकार के सुख या दुःख माता पिता भोगते हैं, उनके विवाह होते हैं, फिर उनके सम्बन्धियों के आचरणों से अनेक प्रकार के सुख दुःख होते हैं, तात्पर्य यह कि चार ही क्या, माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, शत्रु सभी परस्पर किसी न किसी सुख और दुःख के कारण हैं। कभी अपने ही लड़के से घर में आग लग जाती है और लाखों रुपये का नुक़सान हो जाता है। क्या इन सब जगहों में परमात्मा प्रेरणा करता है, क्या किसी ने अनुभव किया है कि कोई प्रेरणा मुझे कर रहा है कि अमुक के घर में आग लगावे, कदापि नहीं? जीव स्वतन्त्र रूप से कर्म करता है, उसके द्वारा किसी को सुख, किसी का दुःख पहुंच जाता है।

ना०–जब जीव स्वतन्त्र रूप से कर्म करता है और जिसको सुख, दुःख प्राप्त होना है हो जाता है फिर परमात्मा का बीच में अड़ने से क्या काम, वह क्या करता है।

आ०–यदि किसी को सुख दुःख पहुंचाना है तो उसकी व्यवस्था करना ईश्वर का काम है-जैसे एक चोर ने चोरी की किन्तु वह उस समय नहीं पकड़ा गया, अब सोचना होगा कि वह पकड़ा क्यों नहीं गया, उसमें यही कहा जायगा कि उस समय उसको दुःख प्राप्त करना नहीं था, और किसी चोरने चोरी की उसके स्थान में वह पहला आदमी पकड़ा गया, जिसने अब चोरी नहीं की तथा उसे क़ैद भी हो गई तो यही कहा जायगा कि यह उसके पूर्व जन्म में किये कर्म का फल है। इस प्रकार विचार करने से यह जटिल समस्या हल हो सकती है।

ना०–यदि इस व्यवस्था को कर्म ही करदें तो आपकी हानि क्या है?

आ०–कुछ भी नहीं किन्तु कर्म तो जड़ हैं उनमें ज्ञान न होने से निम्नलिखित बातें नहीं कर सकते। कर्म कैसे जान सकते हैं कि यह अमुक देश है, अमुक व्यक्ति है, इसको इतना कम या

अधिक दण्ड देना चाहिये। कर्म देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों के कर्मों को कैसे जान सकते हैं क्योंकि प्रत्येक का कर्म प्रत्येक के साथ है। जैसे एक के शरीर की बात को दूसरा नहीं जान सकता ऐसे ही कर्म परस्पर न जानने के कारण एक दूसरे के सुखदुःख के भागी नहीं हो सकते-अर्थात् चोर के कर्म सेठ के कर्मों को नहीं जानते और सेठ के कर्म उसके कर्मों को नहीं जानते फिर चोर के कर्म सेठ के घर चोरी करने की प्रेरणा कैसे कर सकते हैं। परमात्मा एक है वह सबके कर्मोंको जानकर व्यवस्था करदेताहै

ना०-अच्छा प्रथम आप यह बतावें कि आपके सिद्धान्तानुसार कर्म तो क्रिया का नाम है, क्रिया करने के बाद नष्ट होजाती है फिर परमात्मा किस आधार पर सुख या दुःख देता है ?

आ०-मनुष्य जो कुछ करता है उसका संस्कार उसकी आत्माके साथ रहता है उसके अनुसार ही उसको सुख या दुःख मिलता है।

ना०-संस्कार द्रव्य है या गुण, नित्य है या अनित्य, सादि है या अनादि?

आ० -संस्कार अनित्य स्वरूप से सादि और प्रवाहसे अनादि गुण है।

ना०-जो संस्कार आज उत्पन्न होता है वह पहिले था कि नहीं ?

आ० -हो सकता है हो, और न भी हो, जैसे किसी ने चोरी की उस का संस्कार रहा, फिर करली, फिर और होगया और जो उसने प्रथम ही प्रथम चोरी की तो पहिले नहीं था यही मानना पड़ताहै।

ना०-जब एक कर्म का उसे दण्ड मिल गया तब वह संस्कार नष्ट हो गया कि नहीं ?

आ०-संस्कार नष्ट हो भी जाता है और नहीं भी होता, और कभी कभी एक संस्कार से दूसरा दब भी जाता है जैसे किसी चोर को जब उसका दण्ड मिल गया तो उसने प्रण कर लिया कि अब चोरी नहीं करूंगा किन्तु उसको यह याद सारे जन्म रहता है कि मैंने चोरी की थी।

ना०-इस प्रकार तो संस्कार सारे नष्ट होंगे ही नहीं।

आ०-होंगे क्यों नहीं, ज्ञानरूप अग्नि से कर्म और उनके संस्कार सब नष्ट हो जाते हैं 'ज्ञानाग्निः दग्धकर्माणि' इसके अतिरिक्त 'तमाहुः पण्डितं बुधाः' हमने जिस व्यवस्था का ऊपर वर्णन किया है वही सब तुम को भी माननी पड़ती है।

ना०-कैसे ?

आ०-तुमने कहा था कि चोर से चोरी यदि ईश्वर कराता है तो चोर का क्या दोष है, हम पूछते हैं कि ईश्वर न सही कर्म ही कराते सही, फिर भी चोर का क्या दोष है वह कह सकता है मैं क्या करूं मुझसे तो कर्म कराते हैं, चाहे कर्म हो चाहे ईश्वर हो या कोई और हो यदि चोर का प्रेरक और उसके कर्म कराने वाला कोई अन्य होगा, तो चोर कभी अपराधी नहीं ठहरेगा। यही कारण है कि करने वाला वैदिक सिद्धान्त में स्वतन्त्र है, कर्म जड़ हैं वे फल दे नहीं सकते अतः ईश्वर एक ऐसी शक्ति माननी अवश्य पड़ती है जो कर्मफल की व्यवस्थापक है

ना०-अच्छा सही, आप यह बतावें कि ईश्वर दयालु है कि नहीं ?

आ०-हां है।

ना०-और वह भूत, भविष्यत् वर्त्तमान्, सब कुछ जानता भी है तब वह चोर के चोरी के विचार को जानकर भी उसे कुमार्ग से क्यों नहीं रोक देता, देखो गवर्नमेंट जब किसी को चोरी करते देखती है तब उसी समय रोक देती है ऐसे ही यदि ईश्वर चोर को रोक दे तो चोरी ही न हो, और यदि वह जान बूझ कर नहीं रोकता तो न तो वह दयालु है और न जीवों का पिता हो सकता है, यदि वह उनके कर्मों को पहिले से नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ नहीं, यदि उससे चोर रुक नहीं सकता तो सर्व-शक्तिमान् नहीं है।

आ०- ईश्वर सर्वत्र विद्यमान् होने से आत्मा में भी विद्यमान् है, वह हमारे सब बुरे और भले कर्मों और विचारों का साक्षी है, वह दयालु है इसी लिए तो उसने दया करके अपने ज्ञान का भंडार वेद हमें सौंप दिया है जहां स्पष्ट तौर से लिखा है, मागृधः कस्य स्विद्धनम - किसी का धन मत चुराओ, किन्तु आप कहेंगे कि हम वेद को न तो जानते हैं और न मानते हैं, न सही, विचार कीजिये कि जब कोई मनुष्य बिलकुल छिप कर एकान्त में भी जहाँ किसी का भय नहीं कोई कुकर्म करता है तब भी उस की आत्मा में भय होता है, एवं कोई शुभ कार्य करता है, तो आनन्द आता है। अब विचारिये कि वहां कोई नहीं है अतः उसे भय न होना चाहिये, और आप कहें कि आत्मा स्वयं भय दाता है सो भी ठीक नहीं, आत्मा तो प्रेरक ही है उसे अपने से ही कैसे भय होगा, इससे सिद्ध है कि ईश्वर ही वहाँ प्रेरक है। अब आप कहें कि पुनः ईश्वर चोर को रोक हो क्यों नहीं देता इसका उत्तर यही है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, ईश्वर का काम है भले और बुरे का ज्ञान करा देना सो वेदों में उपदेश द्वारा और मन में उत्पन्न भय के द्वारा वह ज्ञान करा देता है किन्तु जीवकी स्वतन्त्रता का विघात तक नहीं होता, यदि हो तो, फिर जीव कोई दोषी ही न हो, किसी २ का यह सिद्धाँत है कि

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयमेव विनश्यति ॥
यः कर्त्ता कर्मभेदानां-भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणम् ॥

अर्थात् जीव स्वयं ही कर्त्ता है और स्वय ही उसके फल को भोग लेता है, यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसा कौन सा जीव है

जो चोरी करके स्वयं जेल में चला जाता हो, जो व्यभिचार कर के स्वयं शरीर में व्याधि उत्पन्न करनी चाहता हो। श्रीयुत मुनि लब्धि विजय जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है कि यदि पाप का फल जीव स्वयं न भोगना चाहे तो न चाहे किन्तु पुण्यका फल तो वह चाहता ही है इसका भी उत्तर यही है कि चाहने मात्र से उसे फल नहीं मिल सकता और यदि मिल जाया करे तो मैं या आप क्यों चक्रवर्त्ती राज्य नहीं चाहते फिर वह मिलता क्यों नहीं. और बहुत से कोढ़ी क्या यह कहते नहीं सुने कि परमात्मा हमको उठाले किन्तु वे मरते नहीं-इस का आशय यही है कि कर्म हमारे अधीन हैं फल देना दूसरे ही किसी के अधीन है।

प्रा०-अच्छा यही सही आप यह बताइये, कि ईश्वर दूसरे को दण्ड देने की इच्छा भी करता है या नहीं, यदि करता है तो वह इच्छा नित्य है या अनित्य। नित्य तो वह हो नहीं सकती क्योंकि प्रति-क्षण जीवों के कर्मों के अनुसार बदलती रहती है अतः अनित्य है। वह नित्येच्छ न रहा, तब वह विकारी क्यों नहीं-दूसरे बुरे कर्म से उसे क्रोध और ग्लानि भी अवश्य ही होगी, भले कर्म स उसे प्रसन्नता होनी भी अनिवार्य है तब वह संसारी जीवों ही के समान रहा-बल्कि उन से भी बुरा रहा क्योंकि अनन्त जीवों का दुःख उसपर आपड़ा।

आ०-आपका कथन युक्ति शून्य है। इच्छा, द्वेष, वैर, मात्सर्य, क्षणिक आनन्द, क्रोध आदि अन्तःकरण के धर्म हैं, अन्तः करण रहित ईश्वर में ये नहीं घटते - न उसकी इच्छाएं प्रतिक्षण बदलती हैं, उसको व्यवस्था नित्य है, ऐसा करने से ऐसा फल मिलता है, ऐसा नित्य नियम है इसमें इच्छा करने की आवश्यकता क्या है, जो जैसा करता है वह वैसा फल भोग लेता है, किसी के

बुरे कर्म से उसे दुःख और भले से आनन्द नहीं होता। जैसे जज यद्यपि प्रति दिन अनेक मनुष्यों को फांसी और क़ैद की सज़ा देता है किन्तु वह उनके लिए कभी नहीं रोता, और जैसे सरकारी खज़ाञ्ची के पास प्रति दिन लाखों रुपया आता है किन्तु उसे उससे आनन्द नहीं होता क्योंकि उस रुपए से उसका कोई निजी सम्बन्ध नहीं है इसी तरह परमात्मा का किसी बुरे भले कर्म से सम्बन्ध न होने से उसे सुख दुःख नहीं होते। इस के सिवाय वह आनन्दस्वरूप है जब उसका स्वरूप ही आनन्द है तब उसमें दुःखादि क्लेशों के प्रवेश का स्थान कहां है ?

ना०-आप यह बतावें कि ईश्वर विरक्त है या मोही, क्योंकि प्रत्येक चेतन को ये दो दशाएं अवश्य ही होती हैं, यदि वह विरक्त है तो संसार के झगड़े में क्यों पड़ता है, यदि वह मोही है तब जगत् बना क्या सकता है ?

आ०-यह भी आप का कथन युक्ति विरुद्ध है क्योंकि विरक्त वह हो सकता है जो कभी रक्त होता है, जब ईश्वर कभी रक्त ही नहीं हुआ तब विरक्त कैसे हो, दूसरे मोहादि धर्म अन्तःकरण के हैं अन्तःकरण रहित में वे घटते नहीं।

ना०-जब वह सारे झगड़ों में फंसा है तब उसे मोही और रक्त क्यों न कहा जाय, बिना अन्तःकरणके उसमें सब धर्मभी होने चाहियें।

आ०-यह कथन युक्तिविरुद्ध है निश्चय है कि बिना कार्य के कारण नहीं होता तब बिना कारण अन्तः करण के कार्य अर्थात् मोहादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं और यदि होने लगें तो - तीर्थङ्करादि सिद्ध लोगों में भी बिना किसी कारण के अशुद्धि, अज्ञान, प्रमाद वैर, विरोधादि धर्म क्यों न उत्पन्न होजावें।

ना०-उनमें थे किन्तु नष्ट हो चुके, अब वे संसारी झगड़ों में नहीं हैं अतः उनमें वे धर्म भी नहीं रहे।

आ०—मोहादि न रहने का कारण अन्तः करण राहित्य को मानते हो या संसार में न रहने को मानते हो ।

ना०—मोहादि न रहने का कारण ज्ञान है, और फिर अन्तः करण राहित्य । अतएव वे संसार में नहीं फंसते ।

आ०—तो सिद्ध हुआ कि संसार में फंसने का कारण अज्ञान है-तो जो नित्यज्ञान स्वरूप है जिसमें अज्ञान लवलेश भी नहीं उसमें मोहादि कैसे उत्पन्न होंगे ?

ना०—मैं यह कब कहता हूं कि उसमें हैं, मैं तो कार्य से कारण का अनुमान कर रहा हूं । मैं तो यह कहता हूं कि यदि उसका संपर्क प्रकृति से है तो उसमें प्रमादादि होने चाहियें ।

आ०—सम्पर्क का क्या अर्थ है ?

ना०—मेल ।

आ०—यदि उसके साथ आकाश का सम्पर्क है तो-वह प्रमादी हुआ ।

ना०—हां उसमें आकाशगत धर्म आने चाहियें ।

आ०—तो, सिद्धशिला भी आकाश में है, और तीर्थङ्करादि का भी सम्पर्क आकाश के साथ है फिर उनमें वे दूषण क्यों नहीं आजाते

ना०—नहीं मेरा तात्पर्य यह है कि यदि आकाशादि के साथ ऐसा सम्बन्ध हो जो उनमें कुछ वैशिष्ट्य उत्पन्न करे ।

आ०—कुछ करे या न करे, जब व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है तब तीर्थङ्करों के साथ सम्पर्क हुआ फिर आकाशगत प्रकृति के अचेतनत्व, अज्ञत्व, अशुद्धि, जड़त्वादि धर्म उनमें क्यों न आवें इसका क्या उत्तर है ।

ना०—मैं कह नहीं सकता-आने तो चाहियें ।

आ०—नहीं, नहीं आ सकते-प्रथम तो परमात्मा सब प्रकृति की वस्तुओं से अत्यन्त सूक्ष्म है किन्तु उसका सम्बन्ध देशगत अवश्य है अर्थात् जहां आकाश है वहां परमेश्वर भी है किन्तु उसमें अज्ञान का अभाव है, वह शुद्धचेतनरूप हैं अतः इन वस्तुओं के धर्म उसमें नहीं आसकते।

ना०—क्या यह नियम है या आपकी कल्पना है ।

आ०--नियम है कि विभु पदार्थों में किसी भी स्थूल या अणुपदार्थ का गुण प्रविष्ट नहीं हो सकता-जैसे विभु आकाश में पृथ्वी जल, तेज और वायु के गन्ध, रस, रूप, और स्पर्श प्रविष्ट नहीं होते-जैसे जीवात्मा के शरीर में रहते हुए भी शरीरगत मल दुर्गन्धादि की उसे प्रतीति नहीं होती जब मल शरीर से बाहर आता है तब इन्द्रियों के द्वारा ही उसे प्रतीति होती है यदि इंद्रिय न हों तो केवल आत्मा को किसी भी पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ का भान नहीं हो सकता इसी तरह परमात्मा उससे भी सूक्ष्म है अतः उसमें जीवात्मा के सम्बन्ध के गुण भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव होने से उसमें किसी वस्तु का मल आवरण, दोष प्रविष्ट नहीं होता और उसकी नित्य शक्ति फिर भी संसार को बना सकती है। इससे जो लोग यह कहते हैं कि यदि परमात्मा मल में है तो उसे दुर्गंध क्यों नहीं आती निराकरण होगया-ऊपर के उद्धरण से यह सिद्ध किया गया है कि कर्मों का फलदाता यदि ईश्वर न हो तो स्वयं जीव फल न भोग सकेगा, इस लिए जीवों के कर्मों का फलदाता अवश्य मानना पड़ेगा और वह ईश्वर है।

अब तृतीय हेतु ईश्वर की सत्ता में देते हैं।

किसी सर्वज्ञ द्वारा जीवोंको ज्ञान मिलना चाहिये

इस पर यह कहा जाता है कि यह कोई हेतु ईश्वर की सत्ता में नहीं है, क्योंकि जीव चेतन है, उसमें स्वभाविक ज्ञान है, वह उस की वृद्धि करता २ मुक्तिलाभ कर सकता है – डार्विन का विकास वाद इसके लिए बड़ी उत्तम सामग्री है। उस का सिद्धान्त है कि मनुष्य बहुत छोटी और तुच्छ अवस्था से इस अवस्था तक पहुंचा है, बहुत तुच्छ ज्ञान से क्रमप्राप्त वृद्धि करता हुआ वह इतने ऐसे चमत्कार पूर्ण अविष्कार कर पाया है-साइन्स वेत्ताओं का विचार

है कि मनुष्य की प्रकृति स्वयं सिखाती है, उसे किसी के ख़ास ज्ञान की अवश्यकता नहीं है, नास्तिकों और ख़ास कर जैनियों के विचार में परमेश्वर ही नहीं फिर उस का ज्ञान और उस की आवश्यकता के अर्थ ही क्या हैं, हाँ, परमेश्वर के स्थानमें वे सिद्धों के आदेश को ही ब्रह्म वाक्य समझते हैं उन के प्रति हमारा कुछ कहना नहीं क्योंकि चाहे किसीका ज्ञान मानो जो यह मानता है कि साधारण जीव के लिए ऋषि-मुनि-सिद्ध योगी-तपस्वी-किसी बड़े के ज्ञान की आवश्यकता है उसके साथ कोई विवाद नहीं है, विवाद है उनके साथ जो कहते हैं कि स्वयं मनुष्य इतनी उन्नति कर सकता है, उस को किसी के भी ज्ञान की आवश्यकता नहीं। प्रश्नोत्तररूप में उनका विवाद इस प्रकार है।

ना०—हम देखते हैं अब भी दिनों दिन मनुष्य उन्नति कर रहे हैं किन्तु किसी भी ईश्वर के ज्ञान का सहारा उनको नहीं है, न किसीने वेद पढ़ा है, ऐसे ही इससे पूर्व भी सहारा न था और सब जीवों ने इसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न किया था इसलिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है, दूसरे ज्ञान आत्मा का नित्य गुण है जब ज्ञान सदा ही रहेगा तो उसमें उन्नति या अवनति करना मनुष्य का स्वभाव हुआ। स्वभाव नित्य होता है अतः ज्ञान की उन्नति भी स्वाभाविक है, तीसरे वेदों में ऐसी अनेक अनर्गल बातें हैं जो उनको ईश्वरोक्त सिद्ध नहीं करतीं, चौथे यदि ईश्वर प्रथम २ ज्ञान देता है तो वह अब भी क्यों नहीं दे सकता-और देसके तो मनुष्य पापी क्यों रहें, पांचवें वेदमें इतिहास है जो उनको ऋषिकृत सिद्ध करता है इस प्रकार छानबीन करने से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वभावतः उन्नति करता चला आता है उसे और के ज्ञानकी आवश्यकता नहींहै

आ०—उपर्युक्त कथन आपका भ्रममात्र है ईश्वर तो हम सिद्ध कर चुके, जीव आत्मा भी सिद्ध है, अब प्रश्न यह है कि अनन्त ज्ञानस्वरूप

परमात्मा का ज्ञान जीव प्राप्त करते हैं या नहीं-इसका उत्तर यह है कि जीव ज्ञानस्वभाववाला होते हुए भी परिमित है, इसका ज्ञान परिमित, शक्ति परिमित और इसकी प्रत्येक वस्तु परिमित है इस लिए परिमित ज्ञानवाला जीव अपरिमित प्रकृति और ईश्वर को स्वतः प्राप्त नहीं कर सकता. उदाहरण के लिए किसी भी बच्चे को यदि ऐसे स्थानपर छोड़ दिया जाय जहां किसी और का उसे संग न हो तो वह सिवाय खाने पीने आदि साधारण कार्यों के और ज्ञान स्वतः कभी प्राप्त न कर सकेगा। अफ्रीका के हबशी जिन तक अभी ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुंचा आत्मा और ईश्वर के लवलेश को भी नहीं जानते-स्वयं योरोपवासी स्त्रियों में आत्मा नहीं मानते थे, और अबभी पक्षियों में आत्मा नहीं मानते और कहते हैं कि उनमें जान है किन्तु आत्मा नहीं है, आत्मा उसमें है जो ईश्वर की इबादत कर सके-इसलिए उनको मारकर खाजाते हैं, मुसल्मानों के पैगम्बर मुहम्मदसाहिब अरबों वर्ष बीत जानेपर भी आत्माके स्वरूप को न जान सके फिर और बातों का तो कहना क्या है-आत्मा ईश्वर और कारणरूप प्रकृति का ज्ञान कभीभी नहीं हो सकता जबतक परमात्मा उपदेष्टा न हो-वेदों में क्या है.वे कैसे हैं, सत्य हैं या असत्य हैं यह प्रश्न दूसरा है। प्रश्न तो यह है कि मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है या नहीं-हम इसमें यह अनुमान देते हैं कि "मनुष्य को अपने से बड़े किसी अन्य के ज्ञानकी आवश्यकता है अल्पज्ञ होने से-पुत्र या शिष्य को, पिता या गुरु के ज्ञान की तरह, क्या आप इस का खंडन कर सकते हैं।

ना०-मैं तो यह मानता हूं कि आदि में मनुष्य उत्पन्न ही नहीं हुआ बल्कि बहुत छोटे कीड़े से मनुष्य की शक्ल बनी है तब उसे ज्ञान दिया कैसे जाय।

आ०-कीड़ा किसने बनाया।

ना०-स्वतः प्रकृति ने।

आ०--प्रकृति जड़ है वह अपने गुण से भिन्न गुण चेतनता को कैसे बना सकती है।

ना०-संयोग से गुणान्तर हो जाता है, जैसे मिट्टी जल और अन्यान्य चीज़ों के मेलसे वर्षा में गिजाई बनजाती हैं।

आ०--वहां भी मैं आत्मा को पृथक् मानता हूं, गुण घटते बढ़ते अवश्य हैं किन्तु कारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं जब कारण प्रकृति जड़ ही होगा, शरीर में चेतनता कहां से आई यह बताइये।

ना०--जैसे कार्बन और अम्ल तथा नमक का पानी मिलने से विद्युत उत्पन्न हो जाती है ऐसे ही चेतनता उत्पन्न हुई।

आ०-कार्बन की जगह आम की लकड़ी लगा देने से विद्युत क्यों नहीं बनती है।

ना०-ऐसा प्रकृति का स्वभाव है।

आ०-वह बिना कारण ऐसा क्यों है।

ना०-बिना कारण नहीं, उन तीनों चीज़ों में ऐसा ही गुण है।

आ०-उनमें पृथक् २ विद्युत प्रवाहक गुण है या नहीं।

ना०-हां है।

आ०-इसी तरह पृथक् किसी भी वस्तु में चेतनता दिखाइये।

ना०-सो तो नहीं दीख पड़ती।

आ०-बस तो मानना पड़ेगा चेतनता एक भिन्न वस्तु है, अवश्य ही संयोग से १ भिन्न गुण पैदा होता मालूम होता है किन्तु वह गुण संयुक्त चीज़ों के अवयवों में अवश्य छिपा रहता है।

ना०-क्या वीर्य और रजके संयोग से चेतनता उत्पन्न नहीं होती।

आ०-नहीं, वीर्य और रज तो साधन हैं चेतनता पृथक् पदार्थ है, ऐसा न हो और शरीर ही चेतन हो तो मृत मनुष्य में भी चेतनता-होनी चाहिये।

ना-अच्छा यही सही, क्रम विकास सिद्धान्त को मानने में आपको आपत्ति क्या है ?

आ०-इसमें बहुत दोष आते हैं।

(१) परमात्मा जब सब प्रकार के शरीर ज्ञान पूर्वक बना सकता है तब छिपकली से मनुष्य क्यों बनाए जावें मनुष्य ही क्यों न बनाए जावें ?

(२) यदि ईश्वर न माना जाय और क्रम विकास माना जाय तो उन्नति किसने की, मसलन पृथ्वी भर पर काई थी और उससे सांयोगिक गुण से कीड़े बने तो प्रश्न यह होगा कि संयोग किसने किया, यदि कहा जाय कि जैसे आम पर क़लम लगने से प्रथम आम का प्रत्येक गुण बदल जाता है इस प्रकार बदल गया, तो क़लम लगाने वाला तो एक मनुष्य पृथक् है वहां तो काई के सिवाय और कुछ था ही नहीं, हो सकता है कि कुत्ते और भेड़िये के मेल से एक और शक्ल का जीव उत्पन्न हो जावे किन्तु जब पृथ्वी भर में अचेतन एक रूप प्रकृति मात्र थी तो उससे सर्वथा भिन्न चेतन द्रव्य कहाँ से और कैसे उत्पन्न होगया ? फिर यह कहना भी कि छिपकली धीरे २ उन्नति करते २ मेंढक या अन्य किसी जानवर की शक्ल में बदल गई ठीक नहीं क्योंकि सृष्टि की आदि में यदि छिपकली का रूपान्तर हो जाता तो अब छिपकली का अत्यन्ताभाव होना चाहिये था, फिर मेंढकों का यहां तक कि बन्दरों तक का अभाव होना चाहिये क्योंकि वे सब बदलगये, यदि कहो नहीं, कुछ रह गये तो रहने का कारण बताइये और यहभी बताना होगा कि अब तब्दीली क्यों नहीं होती ? यही क्यों, विकास मनुष्य ही पर क्यों रुक गया, निरवधि होना चाहिये, अर्थात् अब मनुष्य की शक्ल बदल कर और कुछ होनी चाहिये। फिर यदि सूरत ही बदल गई तो बदले किन्तु मनुष्य में ज्ञान और स्मरणशक्ति और भाषा कहाँ से आगये क्योंकि पहिले कारणों

में तो ये पाए नहीं जाते, और बिना कारण के गुण के कार्य में गुण आते नहीं, फिर अचेतन प्रकृति ने मनुष्य जैसा नियमित विकास कैसे किया। जब अचेतन का कार्य है तो वह ज्ञानपूर्वक तो होता नहीं, विकास करते २ कहीं नाक, कहीं टांग क्यों न लगा दीं। जैसे पर्वत का शिखर टूटता फूटता बदलता ऊट पटांग शक्ल में बदल जाता है वैसे ही तब्दीली होनी चाहिये थी। इस प्रकार विचारने से मालूम होता है कि प्राणियों की हड्डियों और अङ्गों की बनावट में कुछ२ समानता देखकर वैज्ञानिक डार्विन को यह भ्रम हो गया कि कदाचित् इनमें कार्य कारणभाव है। जैसे कोई मनुष्य आँवले के फल को देख कर और तरबूज़ को देख कर यह कल्पना करले कि आंवला बदलता २ तरबूज़ हो गया- क्योंकि फाँक इसमें भी हैं और उस में भी। यही हाल यहाँ हुआ है, समानता पाई जाती है किन्तु इससे यह सिद्ध कैसे हो जाता है कि इन पदार्थों में कार्य कारण भाव है, प्रथम कार्य कारणभाव के सिद्धान्त को जानना चाहिये तब यह कल्पना करनी चाहिये, सो जब तक उपादान, निमित्त और साधारण कारण सब न मिल जावें तब तक कोई कार्य नहीं होता, सो प्राणियों के क्रम विकास में क्या डा० डार्विन ने कार्यकारणभाव को स्थान दिया है ? नहीं, वह तो कल्पना करता है कि चूँकि इसकी और उस की शक्ल मिलती है अतः इससे इसकी उत्पत्ति माननी चाहिये। यह बात तो ऐसी ही हुई कि देवदत्त की शक्ल यज्ञदत्त से मिलती है अतः देवदत्त यज्ञदत्त से क्रमविकास से उत्पन्न हुआ है। इसलिए यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण, अपूर्ण, अनिश्चित, काल्पनिक और व्यर्थ है अतः त्याज्य है। विद्वान् लोग इसपर और विचार करें। ऊपर के उद्धरण से यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य क्रमविकास से उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि किसी सर्वज्ञ अनन्त शक्ति चेतन ने इसको बनाया है, और जो अबभी बनाता है। वही सृष्टि की आदि में एकरस था और

अबभी है और रहेगा। अब पुनः यह विचार किया जाता है कि मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है या नहीं ? यह सभी मानते हैं कि आवश्यकता है चाहे वह स्वभावतः प्राप्त हो, चाहे सिद्धों से प्राप्त हो, चाहे किसी से प्राप्त हो, यह तो सर्वतन्त्र सिद्धान्त है की आवश्यकता है, बस जब आवश्यकता है तब उसके लिए निम्नलिखित नियम अवश्य होने चाहियें।

(१) वह ज्ञान सृष्टि की आदि में हो।

(२) उसमें किसी मत विशेषका नाम और खण्डन मण्डन न हो।

(३) उसमें किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास न हो।

(४) उसकी भाषा एक देशी और अपूर्ण न हो।

(५) उसके प्राप्त करने वाले शुद्धान्तः करण राग द्वेषरहित हों।

(६) उसमें भय, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष न हो।

(७) उसमें मनुष्य के योग्य सब प्रकार का ज्ञान हो।

(८) उसमें ईश्वर जीव-और प्रकृति इन तीनों के यथार्थ लक्षण, उनका यथार्थ स्वरूप, उनके पूर्ण सिद्धान्त पाए जावें।

इन आठ बातों से उस पुस्तक या उस ज्ञान की परीक्षा की जा सकती है।

ना०-इनमें से कई दोष आपके माने हुए वेदों में भी पाए जाते हैं क्या आप उनका निराकरण यहां करेंगे ?

आ०-लेख बढ़ जायगा और यह प्रकरणानुकूल भी नहीं है अतः वेदों के विषय में यहाँ कुछ विवेचना नहीं की जा सकती केवल वे सिद्धान्त बता दिये हैं जिनके आधार पर ईश्वरदत्त ज्ञान की परीक्षा होसके। ऐसा न होने से प्रत्येक मनुष्य कह सकेगा कि मेरी वर्ण माला की पुस्तक भी ईश्वरोक्त है, जैसे दुनिया भरके स्तोत्र शंकर के बनाए और सारे पुराण व्यास जी के बनाए कहे जाते हैं। हमको केवल यहां यह दिखाना था कि यदि ईश्वर ज्ञान प्राप्त

न हो तो अल्पज्ञ जीव कभी ईश्वर, जीव, प्रकृति जैसे गूढ रहस्य को नहीं समझ सकता चाहे खाने पीने के साधारण कार्यों में कुछ उन्नति कर भी ले किन्तु जो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उसे अपने से अधिक ज्ञान वाले, शक्ति वाले के ज्ञान को आवश्यकता है और जिस की आवश्यकता है वही ईश्वर है। इस प्रकार ३ हेतुओं से हमने ईश्वर की सिद्धि की है।